बिहारी का नया मूल्यांकन

•

डा० बच्चन सिंह

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

वाराणसी-१

गिर तें ऊँचे रसिक मन बूड़े जहाँ हजार।
वहै सदा पसु-नरन कौं प्रेम पयोधि पगार॥

पटु पाँखै भखु काँकरे सपर परेई संग।
सुखी परेवा जगत मैं एकै तूही बिहंग।

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक में बिहारी सतसई का मूल्यांकन करते समय तत्कालीन सामंतीय परिवेश को बराबर दृष्टि में रखा गया है।

बिहारी दरबार में रहते थे पर उनको दरबारी नहीं कहा जा सकता। उनमें चाटु की प्रवृत्ति नहीं थी वे वेष-भूषा रहन सहन खान-पान आदि में किसी सामंत-सरदार से कम न थे उनका दृष्टिकोण पूर्णतः सामंतीय था जो सतसई के कथ्य तथा शैलीगत सतर्कता और सज्जा में अभिव्यक्त हो उठा है। उनके प्रेम नारी संबंधी भाव नीति-संबंधी विचार सभी पर सामंत-कवि की छाप है दरबारी कवि की नहीं।

इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने पर ही सतसई का सम्यक् आकलन किया जा सकता था। इसके लिए भी सतसई का ही साक्ष्य माना गया है। इससे सुविधा भी हुई। तत्कालीन परिस्थिति और राजनीतिक स्थिति के नाम पर कहीं से इतिहास के दस-बीस पृष्ठ फाड़कर चिपकाने नहीं पड़े। 'नई समीक्षा' का आग्रह भी कुछ ऐसा ही है।

बिहारी को रीतिकाल का प्रतिनिधि कवि मान लेने का दुष्परिणाम यह हुआ कि उनकी आलोचना भी रीतिबद्ध दृष्टि से की जाने लगी। इसलिए उन पर नए सिरे से विचार करना आवश्यक था। इस सिलसिले में मैंने पुरानी मान्यताओं पर थोड़ा-बहुत नया संस्कार डालने का भी प्रयत्न किया है। इसमें थोड़ी सफलता को भी मैं बड़ी सफलता समझूँगा।

हिन्दी-विभाग
काशी हिन्दू विश्व विद्यालय वाराणसी

बच्चन सिंह

विषय सूची

विहारी का नया मूल्याकन

१

गीतिकाव्य का हेतु

संस्कृत के आचार्यों ने सामान्यतः प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य का हेतु माना है। पर कुछ आचार्यों ने केवल प्रतिभा को ही काव्य हेतु कहा है। राजशेखर का कहना है कि 'सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुः इति यायावरीयः'। वाग्भट ने अपने 'अलंकार-तिलक' में लिखा है—'प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकारणम्। व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ न तु काव्यहेतू'। अर्थात् प्रतिभा ही काव्यकरण का कारण है, व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके संस्कारकारक हैं। पण्डितराज जगन्नाथ का स्वर भी इससे भिन्न नहीं है।

भट्टतौत ने 'काव्य कौतुक' में नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा को प्रतिभा नाम दिया है। 'लोचन' के अनुसार अपूर्ववस्तु निर्माण तथा रसावेश आदि सौन्दर्य काव्य-निर्माण-क्षमा प्रज्ञा प्रतिभा है। वह वर्ण्यवस्तु का नवीन ढंग से उन्मेष करती है, प्रस्तुत पर्यालोचना को नए अर्थों से संयुक्त करती है, कवि में नवीन बुद्धि का स्फुरण करती है। नवीन शब्दावली में कहा जा सकता है कि कवि वस्तुओं के नवीन संबंधों को इस ढंग से व्यंजित करता है जो सामान्यतः अननुभूत और अगोचर थे। काव्य-सर्जना का मूलभूत स्रोत प्रतिभा है। यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि प्रतिभा का विवेचन करते

समय आचार्यों की वस्तुन्मुखी दृष्टि मुक्त नहीं हुई है वर्ण्यवस्तु के नवीन ढंग से उल्लेख पर बल देना इसी तथ्य का द्योतक है। केवल प्रसंग पदयोजना पर मुग्ध होनेवाले विदग्धों को समझ लेना चाहिए कि आचार्यों ने उसका महत्व तभी माना है जब वह नए अर्थों से संयुक्त हो। काव्य का सौंदर्य-पक्ष—रस—तो यहाँ के काव्य का परम साध्य रहा है। प्रतिभा अंग्रेजी इमेजिनेशन की बहुत कुछ समानार्थी है।

'लोकशास्त्र काव्येषु निपुणता व्युत्पत्ति'—लोक शास्त्र और काव्य में निपुणता प्राप्त करना ही व्युत्पत्ति है। भारतीय आचार्यों ने व्युत्पत्ति को काव्य का मुख्य हेतु नहीं माना है। आचार्य मंगल जैसे इक्के के आचार्यों को अपवाद ही समझना चाहिए। पर इससे इतना स्पष्ट है कि कुछ लोग ऐसे भी थे जो व्युत्पत्ति को ही काव्य का हेतु मानते थे। भामह ने भी व्युत्पत्ति को ही काव्य का प्रधान हेतु स्वीकार किया है। पर परवर्ती आचार्यों ने इस धारणा को मान्यता नहीं दी।

जो हो यह सर्व सम्मत है कि काव्य का मुख्य हेतु प्रतिभा ही है पर लोकशास्त्र और काव्य की निपुणता यानी प्रतिभा के पोषक है। पोषक तत्त्वों की प्राप्ति के अभाव में पोष्य की उपादेयता में संदेह हो सकता है। यह भी संभव है कि कभी-कभी विशेष परिस्थियों के कारण व्युत्पत्ति प्रतिभा पर हावी हो जाती है। कभी तो ऐसा होता है कि परिवेशगत दबावों के फलस्वरूप कवि की प्रतिभा क्षीण होती दीख पड़ती है कभी प्रतिभा की कमी की पूर्ति कवि व्युत्पत्ति से करने की कोशिश करता है। रीतिकालीन कवियों में प्रतिभा की कमी नहीं थी। उस काल के सभी प्रतिनिधि कवि प्रतिभा सम्पन्न थे पर अपने वातावरण के कारण उन्हें व्युत्पत्ति का विशेष सहा लेना पड़ा। इसीलिए वे रसावेश की अपेक्षित स्थिति के सृजन में उ समर्थ नहीं सिद्ध हो सके जितने चमत्कार की सर्जना में।

ठाकुर ने केवल अभ्यासी कवियों की खिल्ली उड़ाते हुए लिखा है—

सीखि लीनो मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीखि लीनो जस औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीनो कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सीखि लीनो मेरु औ कुबेर गिरि आनो है॥

ठाकुर कहत याको बड़ो है कठिन बात
याको नहीं भूलि बाँधियत बानो है।
डेल सो बनाय लाय मेलत सभा के बीच
लोगन कबित्त कीबो खेल करि जानो है॥

रीतिकाल में जैसा कि प्रत्येक काल में होता है, तुक्कड़ कवियों की अधिकता हो गई थी। वे केवल कुछ रटी-रटाई वस्तुओं को लेकर कविता का अभ्यास करते थे। किन्तु प्रतिभा के अभाव में सच्ची कविता का निर्माण नहीं हो सकता।

पर ठाकुर ने ही एक दूसरे स्थान पर कहा है—

ठाकुर सो कवि भावत मोहि जो राजसभा में बड़प्पन पावै।
पंडित और प्रवीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित्त बनावै॥

पंडित और प्रवीण की व्याख्या से उस काल के कवियों की मनोवृत्ति का पता लग जायगा। पंडित का अपना एक घेरा होता है और वह अपने निजी चिन्तन के द्वारा उसे तोड़ नहीं पाता या यों कहिए कि वह स्वीकृत मान्यताओं को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेता है। जीवन और जगत को वह रूढ़ियों के माध्यम से देखता-सुनता और परखता है। वह लोक और शास्त्र द्वारा बँधी हुई लीकों पर ही चलता है। उसके लिए स्वानुभूत सत्य का परंपरानुमोदित सत्यों के आगे कोई महत्त्व नहीं होता है। प्रतिभाशाली के लिए आवश्यक नहीं है कि वह स्वीकृत मान्यताओं का विरोध ही करे पर यदि नए यथार्थ का मूल्यांकन करने में वे असमर्थ सिद्ध होती हैं तो वह उन्हें अस्वीकृत कर देता है। वह रूढ़ियों—सामाजिक साहित्यिक सभी प्रकार की रूढ़ियों—का विरोधी होता है। वह गतिशील विचारों के साथ अपने व्यक्तित्व का सहज सामंजस्य स्थापित करता चलता है जब कि पंडित अनेक संस्कारों से निर्मित अपने व्यक्तित्व की निर्दिष्ट सीमाओं में जकड़ जाता है।

प्रवीण विदग्ध का दूसरा नाम है। जो लोग बातचीत के दौरान में कुछ ऐसी युक्तियाँ बाँधते थे कुछ ऐसी सूझ का परिचय देते थे कि उपस्थित जन समुदाय चमत्कृत हो जाता था वे विदग्ध की संज्ञा पाते थे। वे अनूठी बातों की तलाश में ज्यादा रहते थे जिनसे चमत्कार का समा बाँध सकें। वे पंडितों और प्रवीणों की दाद के इच्छुक होते थे। केवल रीतिबद्ध कवि ही इस परिपाटी के कायल नहीं थे। स्वच्छंद काव्य धारा के कवियों को भी उसका

कम मोह नहीं था। पर इन कवियों ने नए यथार्थ को नवीन ढंग से परखा और एक हद तक बहुत सी रूढ़ियों से अपने को मुक्त भी रखा।

सामंतीय वातावरण

कहा जाता है कि तत्कालीन कवियों ने विशिष्ट ढंग की जो साहित्यिक रूढ़ियाँ अपनायीं उसके लिए बहुत कुछ उनका सम सामयिक वातावरण दायी है। यह वातावरण सामंतीय था और कवि सामंतों के आश्रित थे। इसलिए उन्हें उनकी रुचियों का बहुत अधिक ध्यान रखना पड़ता था। यहीं पर यह सवाल भी उठाया जा सकता है कि क्या कालिदास राजाश्रित नहीं थे? क्या भवभूति को किसी राजा की छाया में नहीं पलना पड़ा था? ऐतिहासिक दृष्टि से वह युग भी तो सामंतीय ही था। वे दरबार में रहते थे पर उन्हें दरबारी नहीं कहा जा सकता। उनके आश्रयदाता स्वयं प्रतिभाशाली सहृदय थे। वे काव्य को हल्के मनोविनोद की सामग्री नहीं समझते थे। भोज को ही लीजिए। भोज ने अपने ग्रंथ 'शृंगार-प्रकाश' में अनेक पूर्व स्वीकृत मान्यताओं को अस्वीकार किया है। तो ऐसे लोग भला कवियों को कैसे अपने मनोनुकूल रचनाएँ लिखने के लिए बाध्य करते। रीतिकाल के ऐसे राजाओं को सुखोपभोग के अतिरिक्त और कोई काम नहीं रह गया था। मुगल सम्राटों की शीतल छत्र-छाया में निर्विघ्न विलास में आकंठ मग्न होना ही उनकी दिनचर्या थी। दरबार में आने-जाने से उनसे संबद्ध होने से ही कोई दरबारी नहीं हो जाता। दरबारीपन एक मनोवृत्ति है जिसका विकास बहुत कुछ दरबारों की प्रकृति और व्यक्ति की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। इन दरबारों के पंडितों और प्रवीणों के अनुकूल अपने को ढालना कवियों के लिए अनिवार्य हो गया।[1]

स्पेनी लेखक वाई गैसेट का कहना है कि "अभिजात वर्ग का सदस्य आराम से रहने का अभ्यस्त होता है और उस प्रकार का प्राणवान प्रयत्न नहीं करता जिससे व्यक्तित्व की उन्नति होती है। अभिजात वर्ग का सदस्य विभिन्न खेलों तथा क्रीड़ाओं को जीवन का मुख्य व्यापार बना लेता है और शरीर की स्वच्छता तथा वेशभूषा पर विशेष ध्यान देता है। स्त्रियों से

---

१ विस्तार के लिए देखिए—डा० बच्चन सिंह रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना, ना० प्र० सभा काशी पृ० ७-१०।

व्यवहार करते समय रोमांस का अनुभव नहीं कर पाता।"[1] इसे दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है उनका जीवन दर्शन अगंभीर और क्रीडापरक होता है। इस जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति रीतिकाल की कविताओं में बिखरी पड़ी है।

अभिजात वर्ग के इन्हीं लोगों को रीतिकाव्यों में 'रसिक' कहा गया है। ये रसिक या सहृदय भरत और अभिनव के रसिक और सहृदय की अर्थवत्ता खो चुके थे। सहृदय की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में लिखा है—येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः। किन्तु काव्यानुशीलन के सतत अभ्यास द्वारा मनमुकुर को विशदीभूत करने का अवकाश रीतिकालीन सहृदयों को कहाँ! वे काव्य की चामत्कारिक उक्तियों में ही रस का अनुभव करते थे। बिहारी के 'रसिक' की मनोवृत्ति का निरीक्षण हमारे मन्तव्य को और भी स्पष्ट कर देगा—

फिरत जु अटकत कटनि-बिनु, रसिक, सु रस न, खियाल।
अनत अनत नित नित हितनु चित सकुचत कत, लाल॥

इस पर रत्नाकरजी की टिप्पणी देखिए—

'नायिका नायक को अन्य स्त्रियों के साथ हँसते बोलते देखकर कुछ रुष्ट हुई है, जिस पर नायक ने उससे कहा है कि मैं उन स्त्रियों से कुछ प्रेम संबंध से बातचीत नहीं करता था प्रत्युत केवल आमोद प्रमोद में उलझा था। यह कहते समय नायक का मन अपनी बनावटी बात पर कुछ संकुचित हुआ। यह संकोच उसकी चेष्टा से लक्षित करके एवं सच्ची बात निर्धारित करके नायिका कहती है—

'हे रसिक! (तुम) जो 'कटनि' (प्रेम की धार प्रेम के प्रभाव) बिना अटकत (अन्य स्त्रियों में उलझते) फिरते हो (वह अटकना) रस नहीं है (प्रेम के कारण नहीं है) प्रत्युत 'खियाल' (खिलवाड़ मात्र) है हे लाल [यदि तुम्हारा यह कथन सच है और तुम अपराधी नहीं हो तो फिर तुम यह बतलाओ कि 'नित] 'नित' (नित्यप्रति) 'अनत' 'अनत' (अन्य अन्य स्त्रियों के) हितों से चित्त में संकुचित क्यों होते हो [ये हित

---

१ डा॰ देवराज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश, पृ॰ १२०।

तो तुम्हारे कथनानुसार केवल खिलवाड़ संबंधी है, कुछ प्रेम संबंधी नहीं कि संतोष के कारण हों।]

नायिका नायक को 'रसिक' शब्द से संबोधित करके यह व्यंजित करती है कि तुम जो अन्य स्त्रियों से अटकने का कारण खिलवाड़ मात्र बतलाते हो वह मिथ्या है क्योंकि तुम तो रसिक हो बिना रस के अटकनेवाले नहीं।[1]

इस दोहे का दूसरा अर्थ लिखते हुए रत्नाकरजी ने विपरीत लक्षणा से रसिक का अर्थ अरसिक भी माना है। नायक और नायिका दोनों अपने अपने स्थान पर ठीक हैं। नायक का यह कहना कि नित्य अन्य अन्य स्त्रियों में अटकना केवल खिलवाड़ है कुछ प्रेम नहीं उसकी वास्तविक स्थिति का द्योतक है। रीतिकालीन नायकों का प्रेम अभिजात वर्ग का वह प्रेम है जो क्रीडापरक है रोमैंटिक नहीं। यह वह प्रेम नहीं है जिसमें व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को निमज्जित करने के लिए व्याकुल हो उठता है जिसमें वह विश्व व्यापी आत्मप्रसार का आकांक्षी बन जाता है। नायिका का कथन भी अपने स्थान पर अनुचित नहीं है। रसिक को उस क्रीड़ा में ही रस मिलता है अन्यथा अटकता ही क्यों? भौंरा भी तो विभिन्न पुष्पों से रस एकत्र करता है। पर वास्तव में प्राचीन परिभाषा के अनुसार वह अरसिक है क्योंकि उसका प्रेम अस्थिर, बहुस्त्रीगामी तथा प्रेम की पावन मर्यादा को दूषित करनेवाला है। किन्तु वस्तुतः रीतिकाल का रसिक यही है। मुख्य रूप से बिहारी की समस्त भावाभिव्यक्तियों का केन्द्रीय आश्रय यही है।

यह रसिक नगरी का निवासी है उसकी परिष्कृत रुचि एक विशेष नागरिक संस्कृति के ढाँचे में ढली है। इस रुचि से पृथक अन्य संस्कृति को वह हेय दृष्टि से देखता है। वह स्वयं अपनी संस्कृति की अभिवृद्धि का अभिलाषी नहीं है वह तो एक परिपाटी बद्ध संस्कृति का द्योतक है। संस्कृतियों का विकास बृहत्तर जगत के नए मूल्यों से संपृक्त होने पर ही संभव है। लेकिन सामंतीय संस्कृति ने अपने को ऐसे घेरे में बन्द कर रखा था जो सड़ांध और घुटन के कारण ताजगी शून्य हो चुकी थी। पर सामंत उससे संतुष्ट थे। यह संतोष ह्रासोन्मुखता का सबसे बड़ा चिह्न है। नागर संस्कृति

---

[1] बिहारी रत्नाकर, नवीन संस्करण १६५६, पृ २१७–८।

के पोषक बिहारी ने ग्राम्य संस्कृति का जो चित्रण किया है वह उनकी बँधी हुई दृष्टि का ही द्योतक है।

ग्रामीण नायिका की तुच्छ साज-सज्जा का उल्लेख करते हुए यद्यपि बिहारी ने उसकी मांसलता गदराए हुए शरीर और 'करे उरोजनि' की ओर से अपनी दृष्टि नहीं फेरी है फिर भी 'गँवारि' शब्द से उसके प्रति उनके मन का भाव व्यक्त हो जाता है। ऐसे लोगों को गाँव में बसना भला कैसे अच्छा लग सकता था। नगरों के विविध विलास भला गाँवों में उपलब्ध हो सकना कहाँ संभव था। एक नगर निवासिनी चतुरा स्त्री गाँव में जा बसी है। उसकी मूर्खता पर व्यंग्य करते हुए बिहारी कहते हैं—

> नागरि बिबिध बिलास तजि, बसी गँवेलिन माँहि।
> मूढ़नि मैं गनिबी कितौ, हूठ्यौ दै अठिलाहिं॥

नागर संस्कृति में प्रवीण मनुष्यों के सम्मुख ग्रामीणों की हँसी उड़ाते हुए बिहारी अघाते नहीं—

> ये न यहाँ नागर बढ़े, जिन आदर तो आब।
> फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ, गँवई गाँव गुलाब॥
>
> × × ×
>
> कर लै सूँघि सराहि कै, रहै सबै गहि मौन।
> गंधी गंध गुलाब को, गँवई गाहक कौन॥

पर ग्राम्य संस्कृति का उपहास करते हुए भी इन कवियों ने ग्रामीण नायिकाओं के प्रति अपनी रसिकता में कमी नहीं आने दी है। देव के 'जाति विलास' में मरुभूमिज किरातिनी काछिन सब की सब अपूर्व सुन्दरी हैं। उनकी जातीय विशेषताओं पर इनकी दृष्टि न जाकर उनके 'उमगते यौवन' 'उठौहें कुच' रसीलेपन आदि उन्मादक अवयवों और गुणों पर विशेष रूप से केन्द्रित हुई है। यह इनकी नागर रुचि और सामंतीय संस्कार की द्योतक है।[1]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि रीति कवियों में प्रतिभा की कमी नहीं थी पर एक विशेष मनोवृत्ति के कारण (दरबारी मनोवृत्ति) वे उनका

---

१ डा० बच्चन सिंह: रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना ना० प्र० सभा काशी पृ० १५-१६।

उतना उपयोग न कर व्युत्पत्ति पर अधिक आश्रित हो गए। यदि अंग्रेजी शब्दावली का प्रयोग किया जाय तो कहना होगा कि इनकी कविता में कल्पना का उतना वैभव नहीं दिखाई पड़ता है जितना फैन्सी का। इसके लिए तत्कालीन सामंतीय वातावरण का कम योग नहीं माना जा सकता। यह सामंतीय संस्कृति काफी ह्रासोन्मुख हो चुकी थी उसका अपना घेरा बहुत ही संकरा हो गया था। दूसरी संस्कृति का उपहास करना इस बात का द्योतक है कि वह अपनी सर्जना-शक्ति खोकर एक पूर्व निर्मित मान्यताओं में बचकर भाग रही थी। ऐसी स्थिति में कविता को भी बँधना पड़ा। फिर भी अपने समसामयिक जीवन की—सामंतीय जीवन की—अभिव्यक्ति बिहारी ने पूरी ईमानदारी से की। बिहारी ने परंपरा का निर्वाह करते हुए उसमें कुछ अपना भी जोड़ा मुक्तक-काव्यगत लघु छंद को सर्वोच्च ऊँचाई प्रदान किया प्रेमाभिव्यक्ति में कुछ पुरानी कुछ नयी उक्तियाँ भी कहीं अभिव्यक्ति की व्यंजकता को और भी मार्मिक बनाया। इन कलात्मक विशेषताओं की दृष्टि से समस्त रीतिकाव्य में बिहारी अप्रतिम हैं।

२

परंपरा और गतिशीलता

सामान्यतः आज परंपरा को देखकर चलनेवाला गतानुगतिक और उससे उच्छिन्न होकर चलनेवाला प्रगतिशील माना जाता है। यह जितना आज व्यवहार में सत्य दिखाई पड़ता है उतना ही काव्य में भी। सृजन की नवीनता और मौलिकता के चक्कर में पड़े हुए आज के अनेक कवि जिस उच्छिन्नमूलता की सृष्टि कर रहे हैं वह किसी सहृदय से छिपा नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि वे रूढ़ि या गतानुगतिकता को परंपरा का पर्याय मान लेते हैं अथवा उनके अन्तर को समझने में भूल करते हैं। रूढ़ि परंपरा का अंग अवश्य है पर वह परंपरा का अभिन्न अंग है। परंपरा में और भी बहुत कुछ है। जब कालिदास ने कहा कि 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' तो उनका मतलब कदाचित् परंपरा के रूढ़ि तत्व से ही था। यह रूढ़ि तत्व साधु नहीं माना जा सकता। ये रूढ़ियाँ सब समय रूढ़ियाँ नहीं रही होंगी प्रारंभ में और उनके बहुत समय बाद तक उनका खास प्रयोजन रहा होगा। परंपरा के साधु-असाधु तत्त्वों का अलग करने के लिए विवेक की आवश्यकता होती है। इसके द्वारा ही हम ग्राह्य तत्त्वों को स्वीकार्य तथा अग्राह्य तत्त्वों को अस्वीकार्य करार देते हैं।

रूढ़ि और परंपरा

किसी देश के साहित्य दर्शन संस्कृति आदि की विशिष्ट परंपरा होती है। व्यक्ति का इतिहास उस परंपरा की एक कड़ी के रूप में ही ग्राह्य होगा—उसका मूल्यांकन करते समय आवश्यक होगा कि तत्संबंधी युगीन परंपरा को बराबर ध्यान में रखा जाय। इस लिए आज के कारण परंपरा की स्थिरता आंदोलित हो उठती है और आलोचक को नए सिरे से मूल्यांकन करना पड़ता है। ऐसा करना तभी जरूरी समझा जायगा जब नवीन इतिहास के कारण परंपरा में कुछ नया जुड़ा हो और वह नया तभी जुड़ सकता है जब समूची परंपरा की चेतना रचयिता को प्राप्त हो।

टी० एस० ईलियट ने परंपरा को बहुत ही व्यापक और गंभीर महत्व दिया है। यह किसी को विरासत में नहीं मिलती। इसे परिश्रम पूर्वक अर्जित करना पड़ता है। इसके मूल में एक ऐतिहासिक चेतना अनुस्यूत है। ईलियट के मतानुसार जो पच्चीस वर्ष (तरुणाई पीछे) के बाद कवि बना रहना चाहता है उसके लिए इस चेतना की उपलब्धि आवश्यक है। ऐतिहासिक चेतना का तात्पर्य है अतीत के 'अतीत' और उसके 'वर्तमान' के प्रति पूर्ण जागरूकता। इसे दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि परंपरा के शाश्वत मूल्यों के साथ साथ वर्तमान जीवन मूल्यों के प्रति सचेत रहना कवि का कर्तव्य है। उसे केवल अपने युग के प्रति ही सचेत नहीं रहना होगा बल्कि समूची काव्य परंपरा के प्रति सचेत रहना होगा।

बिहारी ने सात सौ दोहोंवाली जिस सतसई की रचना की उसकी परंपरा काफी पुरानी है। बिहारी उसी परंपरा की एक कड़ी के रूप में आते हैं।

क्या सतसई रीतिबद्ध काव्य है ?

बिहारी की ऐतिहासिक चेतना के प्रति सन्देह नहीं प्रकट किया जा सकता। इस चेतना को उन्होंने विरासत में नहीं पाया था बल्कि परिश्रम पूर्वक अर्जित किया था। इसके प्रमाण में उनकी सतसई को पेश किया जा सकता है। हाँ यह दूसरा सवाल है कि उस परंपरा में उन्होंने कितनी रूढ़ियों को ग्रहण किया और कितने प्रवहमान साधु तत्वों को। क्या उनकी सतसई ने भारतीय काव्य-परंपरा में कुछ ऐसा जोड़ दिया कि समूची परंपरा का पुनः सर्जन आवश्यक है? बिहारी सतसई को लेकर चलने वाले विवादों के संदर्भ में इन प्रश्नों का महत्व और भी बढ़ जाता है।

यद्यपि पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी की आलोचना करते समय दाद देनेवाली आलोचनात्मक पद्धति ही अपनाई फिर भी उस सिलसिले में एक

महत्त्वपूर्ण काम यह हो गया कि गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती, अमरु शतक आदि की गाथाओं और श्लोकों के समानांतर रखे जानेवाले बिहारी के दोहों की उद्धरणी प्रस्तुत हो गई। बाद में कुछ आलोचकों ने बिहारी में अन्धानुकरण की प्रवृत्ति के न होने की सराहना की पर बीच बीच में जहाँ अनुकरण नहीं है वहाँ भी अनुकरण सिद्ध करने की मौलिकता भी दिखलाई। ऐसी स्थिति में शर्मा जी की ऐतिहासिक गणना का विवेचन अपना महत्त्व रखता है।

बिहारी को रीति-कवियों में रखने का परिणाम यह हुआ कि उनकी रचनाओं में रीति-तत्त्व निकालने की घुड़दौड़ मच गई। यहाँ तक कि कई से नई पुस्तकों में भी इसके लिए काफी पृष्ठ देने पड़े। बिहारी की रीतिबद्धता पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सवाल उठाया है। 'साधारणतः विश्वास किया जाता है कि इस कवि ने अपनी सतसई की रचना रीति-काव्य की दृष्टि से ही की थी क्योंकि उनके दोहों को देखकर यही अनुमान होता है कि किसी न किसी नायिका का लक्षण उनके मन में अवश्य उपस्थित था। पुराने सहृदयों को भी यह बात लगी थी (क्योंकि कभी-कभी इन दोहों को नायिका भेद के अनुक्रम से सजाया गया है) और नए सहृदयों को भी अनुभूति हुई है। परंतु इस बात से केवल यही सिद्ध होता है कि बिहारी के प्रशंसक रीति मनोवृत्ति के सहृदय थे। स्वयं बिहारी भी रीतिग्रंथों के अच्छे जानकार रहे होंगे, इसमें सन्देह नहीं किन्तु उनके प्रत्येक दोहे में किसी न किसी नायिका का नाम लेना यह नहीं सिद्ध करता कि वे रीतिग्रंथ लिख रहे थे। अमरुक शतक के श्लोक नायिका भेद की चर्चा करनेवालों के बहुत प्रिय रहे हैं परंतु इसीलिए यह नहीं कहा जाता कि अमरुक शतक नायिका भेद का ग्रंथ है। हाल की प्राकृत भाषा में लिखी हुई गाथा सप्तशती और गोवर्धन की संस्कृत भाषा में लिखी हुई आर्या सप्तशती के प्रत्येक पद्य में किसी न किसी नायक नायिका का उदाहरण खोजा जा सकता है और खोजा गया है परंतु इन पुस्तकों को कोई रीति ग्रंथ नहीं कहता।'[1]

बिहारी सतसई को रीति ग्रंथ सिद्ध करने के लिए मुख्यतः दो बातें प्रस्तुत की गई हैं—नखशिख वर्णन और नायक-नायिका-भेद-चित्रण। अब आइए इनकी वास्तविकता का पता लगाएँ। लाला भगवानदीन ने बिहारी-बोधिनी में

१ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिन्दी साहित्य, प्रथम संस्करण, पृ० ३१४-१५

दोहों के कुछ अनुक्रम बाँधे हैं जिनमें उपर्युक्त दोनों बातों का समावेश हो जाता है। पहले नख-शिख वर्णन का औचित्य ही देखें।

बिहारी बोधिनी के अनुसार नखशिख का क्रम प्रथम शतक के ९६वें दोहे से आरंभ होता है और फिर दूसरे शतक के ११४वें दोहे तक चलता जाता है। इसके अंतर्गत जिन कई अंगों तथा आभूषणों का वर्णन आता है वे निम्नलिखित हैं—

केश मुख पर बिखरी लट बेंदी टीका बिंदी भौंह, नयन नयन-कोन नासिका कपोल श्रवण अधर चिबुक डिठौना और मेंहदी।

किस वस्तु के वर्णन में कितने दोहे रचे गए हैं उनकी क्रमबद्ध तालिका देखिए—

अंग	दोहा	अंग	दोहा
केश	४	मुख	१
लट	१	चिबुक	२
बेंदी	१	हास्य	१
टीका	१	कुच	१
बिंदी	७	कटि	२
भौंह	३	जंघा	१
नयन	११	मारवा	१
नासिका	६	एँड़ी	२
कपोल	१	पायल	१
श्रवण	१	अनवट	१
अधर	१	पगतल	१
चिबुक	४		
डिठौना	२		

क्या इसे नखशिख वर्णन माना जा सकता है? इसमें कुछ अंगों का वर्णन में व्यतिक्रम हो गया है और कुछ अंग छूट गए हैं। व्यतिक्रम के संबंध में रीतिप्रेमी सहृदय कह सकते हैं कि इसके लिए बिहारी नहीं लाला जी दोषी हो सकते हैं। लेकिन इस वर्णन में दाँत ग्रीवा और हाथ जैसे प्रमुख अंग छूट गए हैं। इसके लिए कौन दोषी ठहरेगा? इससे स्पष्ट है कि नखशिख वर्णन को दृष्टि में रखकर बिहारी ने नखशिख-वर्णन नहीं किया है।]

नायक-नायिका-भेद की परीक्षा करने पर भी हम उपर्युक्त निष्कर्ष पर ही पहुँचते हैं। एक ने जिस दोहे में जिस मनोकूल नायिका को ढूँढ़ निकाला है वह दूसरे को मान्य नहीं है। अभी हाल ही में प्रकाशित पुस्तक 'बिहारी और उनका साहित्य'[1] में मध्या का उदाहरण पेश करते हुए निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया गया है—

दुरत न कुच बिच कंचुकी चुपरी सारी सेत।
कवि आँकनु के अर्थ लौं प्रगट दिखाई देत॥

आचार्यों ने मध्या की स्थिति मुग्धा और प्रौढ़ा के बीच मानी है। इसमें लज्जा की कुछ कमी और काम की कुछ अधिकता होने लगती है। दूसरे शब्दों में इसमें लज्जा और काम समान रूप से रहते हैं। क्या उपर्युक्त दोहे से इसी प्रकार की नायिका की व्यंजना होती है? लालाजी ने इसे कंचुकी के वर्णन के अन्तर्गत रखा है और रत्नाकर जी ने अंकुरित यौवना के अन्तर्गत। उक्त पुस्तक से ही प्रौढ़ा का एक उदाहरण लीजिए—

कुच गिरि चढ़ि अति थकित ह्वै चली डीठि मुँह चाड़।
फिरि न टरी परियै रही गिरी चिबुक की गाड़॥

प्रौढ़ा काम कला में अति प्रवीण मानी जाती है। मध्या की अपेक्षा उसमें लज्जा की भावना और भी कम हो जाती है। वह प्रिय के साथ काम-क्रीड़ा में निस्संकोच संलग्न दीख पड़ती है। भला यह दोहा किस प्रकार प्रौढ़ा का उदाहरण माना जा सकता है। वय परिवर्तन को ही दृष्टि में रखकर नायिका-भेद का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। मुग्धा मध्या प्रौढ़ा वय जन्य अवस्थाएँ ही नहीं हैं बल्कि इनके मूल में लज्जा और काम विकार का न्यूनाधिक्य भी अनुस्यूत है। अधिक वय की होकर भी अथवा वय परिवर्तन के बावजूद भी कोई मध्या मुग्धा या प्रौढ़ा मध्या हो सकती है। इस तरह इसका विपरीत भी समझना चाहिए। मनोवैज्ञानिकता का विचार न करने के कारण इस तरह की गड़बड़ी का हो जाना स्वाभाविक है। यह सब कहने का मेरा तात्पर्य इतना ही है कि इस तरह सतसई में नायिका-भेद ढूँढ़ निकालना न्याय्य नहीं कहा जा सकता है। यदि ऐसा करना होता तो इन दोहों के साथ लक्षण जोड़ देना किसी के लिए कोई मुश्किल काम न था।

---

१. डा० हरवंशलाल शर्मा : 'बिहारी और उनका साहित्य'।

तो क्या बिहारी की ऐतिहासिक चेतना में सतसई की दीर्घ परंपरा का अनुशीलन—आत्मसात संनिहित है और वह उस परंपरा को आगे बढ़ाती है? इसका आंशिक उत्तर पीछे दिया जा चुका है। फिर भी यहाँ यह कहना असंगत नहीं है कि बिहारी ने उस परंपरा को एक ऊँचाई दी। युगीन विवशताओं तथा एक दीर्घ काव्य-परंपरा के कारण उन्हें अनेकानेक रूढ़ियों को भी अपनाना पड़ा यह एक अलग बात है। जिन ऊहात्मक उक्तियों के लिए बिहारी को कोसा गया है वे उन्हें परंपरा से प्राप्त हैं।

जिन ऊहात्मक उक्तियों के लिए बिहारी का बहुत कोसा गया है उस तरह ऊहात्मक उक्तियों की की बहुत सी उक्तियाँ उनके पूर्ववर्ती काव्य में परंपरा ही दिखाई पड़ती हैं—

(1) चूड्डुअ चुराणी होइ सइ मुद्धि कवोलि विलिहिअ।
सासानल बाह जलक्किअद्द ताइ सहिअ संसित्तअ॥

(मुग्धा की श्वासाग्नि से और वाष्प जल से तप कर चूड़ियाँ चूर-चूर हो जाँयगी। मुग्धा अपने गालों पर हाथ रख कर शोक मुद्रा में बैठी हुई है। वह श्वास की ज्वाला तथा वाष्प बनते हुए अश्रुओं के ताप से चकनाचूर हो जायगी।)

(२) वलयावलि विगलिय भएण जय उड्ढभुअ जाइ।
वल्लह विरह महादहरी थाह गवेसइ वाइ॥

(कार्श्य के कारण नायिका की वलयावलि के गिरने की आशंका हो गई है। इसलिए वह अपनी भुजाओं को ऊपर उठाए हुए चली जा रही है। ऐसा लगता है मानो प्राणवल्लभ के विरह महोदधि की थाह ले रही है।)

अब बिहारी की कुछ उक्तियाँ देखिए—

(1) पलनु प्रगटि, बरुनीनु बढ़ि, नहि कपोल ठहरात।
अँसुवा परि छतिया छिनकु छनछनाइ छिपि जात॥

(२) सुनत पथिक मुँह माह निसि लुवैं चलत उहि गाम।
बिन बूझे बिनही कहे जियत बिचारी बाम॥

खण्डिता और मान प्रसंगों की चर्चा आगे के अध्याय में की गई है।

बिहारी ने विदेशी प्रभाव को भी अपने ढंग से ग्रहण किया पर उसकी भी कुछ रूढ़ियाँ जो संख्या में कम ही हैं, सतसई में सन्निविष्ट हो गई हैं।

फारसी-उर्दू साहित्य में उल्लिखित कतरे का दरिया होना कलेजे का चाक होना खून-खराबी आदि को भी बिहारी सतसई में देखा जा सकता है। हिन्दी के मुसलमान कवियों में यह परंपरा पहले से ही चली आ रही थी। उसका प्रभाव मीराँ जैसे भक्त कवियों पर भी पड़ा। उसे बिहारी का ग्रहण करना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता—

गोपिनु कैं अँसुवनु भरी सदा असोस, अपार।
डगर डगर नै ह्वै रही, बगर बगर कैं बार॥

उद्धव भी कृष्ण से कहते हैं कि व्रजमंडल के प्रत्येक मार्ग में घर-घर के द्वार पर गोपियों के आँसुओं से भरी हुई कभी न सूखने वाली अपार नदी बन गई है। गनीमत यह हुई नाव चलाने की व्यवस्था नहीं की गई।

अब उर्दू के एक शेर पर गौर फरमाइए—

गौर से कतरे की ग़ालिब जो नज़र की तो खुला।
हम इसे कतरा गलत समझे थे दरिया है यही॥

दोनों में कितना साम्य है!

बिहारी की एक दूसरी उक्ति देखिए—

कही बिरह ऐसी तऊ गैल न छाड़तु नीच।
दीनैं हू चसमा चखनु, चाहै लहै न मीच॥

कार्य का बड़ा ही चामत्कारिक दृश्य है।

फारसी-उर्दू की परवर्ती परंपरा से इसकी तुलना कीजिए—

मर गया सदमए यक जुंबिशे लब से 'ग़ालिब'
नातवानी से हरीफ़े दमे ईसा न हुआ।

यह प्रसिद्ध है कि ईसामसीह कुछ शब्द—कुम ब इज़्निल्लाह—कहते थे और उसके प्रभाव से मुर्दों में प्राण आ जाते थे। ग़ालिब का कथन है कि मैं इतना दुबला हो गया था कि प्रियतम रूपी मसीह के होंठ कुछ कहने को हिले नहीं कि मैं उनकी बात से मर गया।

कहना न होगा कि ग़ालिब ने बिहारी को बहुत पीछे छोड़ दिया। यह थी भी तो ग़ालिब के पुरखों की परंपरा।

सुकुमारता का एक उदाहरण और देकर मैं इस प्रसंग को समाप्त करूँगा—

> छाले परिबे कैं डरनु सकै न हाथ छुवाइ।
> झझकत हियैं गुलाब कैं झँवा झँवैयत पाइ॥

छाले पड़ने के डर से नाज़ुक नायिका के पाँवों को हाथों से छूने में हिचकिचाती है।

और गालिब के माशूक की नज़ाकत देखिए—

> इस नज़ाकत का बुरा हो, वो भले हैं तो क्या,
> हाथ आवें तो उन्हें हाथ लगाये न बने।

यहाँ भी कदाचित् छाले पड़ने के डर से ही माशूक का स्पर्श नहीं किया जाता।

पांडित्य प्रदर्शन

परंपरा का रूढ़ि अंश बिहारी में एक प्रकार से और मिलता है—निजी जानकारी और पांडित्य प्रदर्शन के रूप में। ऐतिहासिक चेतना के लिए यह आवश्यक है कि परंपरा से उचित ज्ञान-विज्ञान की अच्छी जानकारी प्राप्त की जाय पर उसका उपयोग निजी जानकारी के प्रदर्शन के रूप में नहीं होना चाहिए। यह पांडित्य और जानकारी जब तक अंतर्गत सौन्दर्य का अनिवार्य अंग नहीं बन जाती तब तक कवि की कारयित्री प्रतिभा उसका काव्योचित उपयोग नहीं कर सकती। बिहारी के कुछ दोहों के आधार पर उन्हें चोटी का अभिज्ञ वैद्य या ज्योतिषी मान लेना अर्थ का अनर्थ कर बैठना है। यह बात अब इतनी घिस पिट गई है कि उसका उल्लेख भी बासीपन की गंध से खाली नहीं है। कविता में जिस निर्वैयक्तिकता की चर्चा की जाती है उसका मतलब केवल निजी अनुभूतियों से पलायन नहीं है, बल्कि व्यक्तित्व से भी पलायन है। निजी जानकारियाँ या पांडित्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का अंग है इसलिए उन्हें कवि को—लोक हृदय की पहचान करनेवाले कवि को—उससे पलायित होना होगा। इस प्रकार का पांडित्य प्रदर्शन साहित्य के किसी भी क्षेत्र में अभिनंदनीय नहीं कहा जा सकता। हिन्दी के युग के उपन्यास जिनमें मनोविश्लेषण शास्त्र के सिद्धान्तों का अथवा इतिहास के तथ्यों का बाहुल्य हो गया है उच्चकोटि की कृतियों में नहीं गिने जाते। तुलसीदास के प्रकृति-चित्रण में जो ज्ञानमूलक अंश अप्रस्तुत के रूप में जुड़ गया है वह काव्य-सौंदर्य को विकृत कर देता है। कवि की अपनी निजी विशेषताओं का चित्रण साहित्य का शोभन उपकरण नहीं माना जा सकता। इस तरह के अकाव्योचित अंश बिहारी में देखे जा सकते हैं—

(१) कहत सबै बेंदी दियैं आँकु दसगुनौ होतु।
तिय लिलार बेंदी दियैं, अगिनितु बढ़त उदोतु।

(२) मैं लखि नारी ज्ञानु, करि राख्यौ निरधारु यहु।
वहई रोगु-निदानु वहै बैदु औषधि वहै।

(३) तिय तिथि तरनि किसोर वय, पुन्य काल सम दोनु।
काहू पुन्यन पाइयतु, बैस संधि संक्रोनु।

(४) सनि कज्जल चख-झख लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यौं न नृपति ह्वै भोगवै, लहि सुदेसु सब देहु।।

उपर्युक्त उद्धरणों में गणित, वैद्यक और ज्योतिष के जिन मामूली सिद्धांतों का सहारा लिया गया है उनका साध्य कुछ दूसरा ही है। पहले दोहे में कवि का मुख्य अभिप्राय बिंदी लगाने के कारण नायिका की बढ़ी हुई शोभा का वर्णन करना है। दूसरे में नायक के प्रति नायिका के प्रेम की व्यंजना उसका अभिप्रेत है तीसरे में वय संधि का सौंदर्य ही उसका मुख्य वर्ण्य है, चौथे में सुन्दर शरीर के भोग की सराहना की गई है। यहाँ पर साधन स्वयं साध्य हो गए हैं इसलिये समस्त दोहे काव्य-सौंदर्य से अछूते रह गए हैं और पांडित्य प्रदर्शन उभर कर सामने आ गया है। कविता का मर्म पांडित्य में नहीं सरसता में है।

ये सब परंपरागत रूढ़ियाँ हैं जिनके कारण बिहारी का काव्य त्रुटिपूर्ण हो गया है। पर बिहारी की ऐतिहासिक चेतना के वे तत्त्व भी हैं जो उनके काव्य को पूर्ववर्ती काव्य-परंपरा की अपेक्षा अधिक परंपरा-मुक्त मौलिकता स्वतंत्र और चमत्कार-क्षम बनाने में सक्षम हैं। इस चेतना को ठीक से न समझने के कारण जो लोग अनुकरण या अपहरण दिखाने के लिए आलोच्य कवि की रचनाओं और पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं में साम्य खोजते फिरते हैं उनकी समझ को क्या कहा जाय। गोस्वामी तुलसीदास की 'नाना पुराण निगमागम सम्मतम्' उक्ति को न जाने कितने लोगों ने मानस में पौराणिक उपाख्यानों का लेखा-जोखा लेकर प्रस्तुत किया है। बिहारी भी इस इलजाम से बरी नहीं हैं। परंपरा को छोड़कर मौलिकता का कोई अर्थ नहीं है। जार्ज बर्नार्डशा ने एक वस्तु विशेष को मौलिक की संज्ञा दी है। पुरानी बातों में नयापन ले आना ही मौलिकता है। आनन्दवर्धनाचार्य का कहना है—

दृष्टपूर्वा अपिह्यर्थाः काव्ये रस परिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवा भान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥

पहले के अर्थों को रस संचार द्वारा नवीन बना देने में ही मौलिकता है जैसे मधुमास पुराने वृक्षों को नया बना देता है। टी एस इलियट इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में कहता है— " It involves a good deal which can be called taboo that this word is used in our time in an exclusively derogatory sense is to me a curiosity of some significance We become conscious of these items or conscious of their importance usually only after they have begun to fall into desuetude as we are aware of the leaves of a tree when *the autumn wind begins to blow them off—when they have* separately ceased to be vital. Energy may be wasted at that point in a frantic endeavour to collect the leaves as they fall and gum them on to the branches but the sound tree will put forth new leaves and the dry tree should be put to the axe We are always in danger in clinging to an old tradition or attempting to reestablish one of confusing the vital and the unessential the real and the sentimental.

मधुमास में जीवन्त वृक्ष अपने जीर्ण पत्तों को झाड़ देते हैं उनके स्थान पर लाल लाल नए कोंपल उगाने में समर्थ होते हैं। मृत पत्तों को डालों से चिपका देना परंपरा के मृत तत्वों को चिपका देना है उन्हें पुनः स्थापित करने का प्रयास है। पर वास्तविक कवि जीवन्त और अजीवन्त वास्तविक और भावुकतापरक तत्वों की पहचान में दक्ष होता है। इस प्रकार की दक्षता प्राप्त करना ऐतिहासिक चेतना प्राप्त करना है। बिहारी में इसकी बहुत कमी नहीं है। यह दूसरी बात है कि स्वयं आलोचक इन तत्वों को न पहचान कर बिहारी के मत्थे थोप दें।

सतसइयों की परंपरा में जो पहला ग्रंथ दिखाई देता है वह है हाल की गाथा सप्तशती। इस परंपरा का दूसरा विशिष्ट ग्रंथ है अमरु का शतक और तीसरा *गोवर्धन की आर्यासप्तशती*। यों तो इस परंपरा में छोटे-मोटे बहुत से प्रयास हुए हैं। बिहारी ने इन तीनों ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रंथों का भी अनुशीलन किया होगा। ऐसा उनकी रचना से प्रकट होता है। किंतु अनुशीलन का तात्पर्य रूपान्तर नहीं है। उन्होंने पूर्ववर्ती ग्रंथों से बहुत कुछ

लिया है पर उन्हें अपना बनाकर लिया है उन्हें अपनी प्रतिभा के स्पर्श से नया बना दिया है।

गाथा का एक पद्य देखिए—

> अज्जवि दुक्कर आरअ पुणो वि लत्तिं करेसि गमणस्स।
> अज्ज वि ण होन्ति सरला वेणीअ तरङ्गिणो चिउरा ॥ ३।०१
>
> (अद्यापि दुष्करकारक पुनरपि चिन्तां करोषि गमनस्य।
> अद्यापि न भवन्ति सरला वेण्यास्तरङ्गिणश्चिकुराः।)
>
> —संस्कृत रूपान्तर

अर्थात् हे दुष्कर व्यवहार करनेवाले! नायिका के केश जो तुम्हारे प्रवास में रहने पर नहीं बाँधे जा सके अभी तक उलझे हुए हैं। वे सीधे नहीं हो पाए। और तुम पुनः प्रवास की चिन्ता करने लगे!

अब सतसई का एक दोहा देखिए—

> अभी न आये सहज रंग बिरह दूबरे गात।
> अब ही कहा चलाइयत ललन चलन की बात॥

इन पद्यों पर पं० पद्मसिंह शर्मा की टिप्पणी है—

'गाथा का भाव है कि वाह तुम भी कोई अजीब हो फिर तुम्हें जाने की सूझी यह क्या गजब करने लगे हो। अभी तो वेणी बाँधने न—(प्रवास विरह में पतिव्रता के धर्मानुरोध के कारण)—उलझकर पड़े केश भी सुलझ कर सीधे नहीं हो पाये।

निस्संदेह गाथा अपने ढंग में बहुत ही उत्कृष्ट है गाथाकार ने किसी को कुछ कहने की गुन्जाइश नहीं छोड़ी 'अद्यपि न भवन्ति सरलास्तरङ्गिणश्चिकुरा" बात बहुत ही साफ और सीधी है पर तो भी चमत्कार से खाली नहीं इसका बाकपन दिल में चुभता है। बहुत ही मधुर भाव है।

पर बिहारीलाल जी तो एक ही काइयाँ ठहरे! वह कब चूकने वाले हैं बहुत बढ़कर मजमून को साफ ले ही तो उड़े।

'अभी न आये सहज रंग बिरह दूबरे गात'

वाह उस्ताद क्या कहने हैं। क्या सफाई नजी है, काया ही पलट दी। कौन पहचान सकता है! वहाँ (गाथा में) केवल उलझकर पड़े केश ही थे यहाँ 'बिरह दूबरे गात' हैं।

'केशों में सरसता आने की अपेक्षा 'दूबरे गात में सहज रंग का वास' माना कहीं अधिक वांछनीय और महत्त्वपूर्ण काम समझा जा सकता है। फिर "अब ही कहा चलाइयत ललन ! चलन की बात" में कितना माधुर्य है। प्रेमानुभाव कितना अच्छा है।

इसी दोहे के संबंध में 'बिहारी और उनका साहित्य' में कहा गया है कि गाथा के रूपान्तर के अतिरिक्त यह कुछ भी नहीं है।

अपनी प्रशंसात्मक आलोचना के बावजूद भी मानना होगा कि जाने या अनजाने शर्मा जी को ऐतिहासिक घटना की अधिक परख है। अपनी टिप्पणी के अंत में बिहारी की विशेषता को पकड़ते-पकड़ते वे रह गए हैं। पर इसे गाथा का रूपान्तर मात्र मान लेने में औचित्य नहीं है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता लगेगा कि गाथाकार ने परंपरा की रूढ़ि को ही ग्रहण किया है। प्रिय के वियोग में केशों का प्रसाधन न करना सत्य होने पर भी रूढ़ि ही है। किंतु बात जिस ढंग से कही गई है वह चमत्कारिक अवश्य है। लेकिन बिहारी के उपर्युक्त दोहे में रूढ़ि का सहारा नहीं लिया गया है। अतः उसमें जो ताजगी और प्रभावोत्पादकता है वह गाथा में नहीं है। केशों का प्रसाधन मानसिक व्यापार से संबद्ध होने पर भी एक बाह्य व्यापार है। पर शरीर के दुर्बल और उससे विवर्ण होने का सीधा संबंध मानसिक व्यापारों से है जो मन पर सीधे चोट पहुँचाते हैं। गाथाकार की अपेक्षा बिहारी जहाँ तक उपर्युक्त दोहे का संबंध है पाठकों से अधिक व्यापक मानसिक संवेदन की माँग करते हैं। इसलिए बिहारी की व्यंजना अधिक गंभीर और संवेदना-पूर्ण बन गई है।

गाथा का एक सुरति-पीड़िता का चित्र देखिए—

सहइ सहइ त्ति तह तेण रामिआ सुरअदुम्मिअएण ।
पम्हाअसिरीसाइ जहइ से जाअइ जहाइं ॥ १-२१

[सहते सहते इति यथा तेन रमिता सुरतदुर्विदग्धेन ।
प्रम्लानशिरीषाणीव यथास्या यातान्यङ्गानि ॥]

—संस्कृत-रूपांतर

बिहारी का दोहा यों है—

यौं दलमलियत निरदई, दई कुसुम सौ गात ।
कर धर देखो धरहरा, अजौं न उर को जात ॥

शर्मा जी तो इतना ही कह कर रह गए कि 'इस प्रकार बिहारीलाल जी इस मैदान में गाथाकार और कालिदास से बहुत आगे बढ़ गए, क्या अच्छा संस्कार किया है मजमून छीन लिया है। उन्होंने संस्कार की बात स्वीकार की है पर संस्कार के स्वरूप की चर्चा नहीं की है।

किन्तु 'बिहारी और उनका साहित्य' में उक्त पद्यों पर की गई टिप्पणी देखिए—

इस भाव को बिहारी ने ज्यों का त्यों अपनाया है। 'सुरतदुविरम्भ और निरदई शब्द एक से वजन के हैं। दोहे में सामान्य कुसुम द्वारा नायिका के अंगों का सौकुमार्य प्रकट किया है किन्तु गाथाकार ने शिरीष पुष्प का प्रयोग किया है जो कदाचित् पुष्पों में कोमलतम होता है। (महाकवि कालिदास ने शिरीष कुसुम को ही कोमलता का प्रतीक प्रायः माना है) दोहाकार ने 'दलमलियत' कह कर अंगों के अत्यंत पीड़न का अभिधा द्वारा उल्लेख किया है। गाथाकार ने उपमान शिरीष के साथ म्लान विशेषण जोड़ कर उसकी व्यंजना की है। दोहे में 'उर का करहूग' सुरतजन्य आयासाधिक्य का सूचक है तो गाथा में सहते सहते शीघ्र सुरत की तीव्रता की द्योतक है।

डा० हरवंशलाल शर्मा से मैं अपनी असहमति प्रकट करते हुए कहना चाहूँगा कि किसी भी भाव को दूसरे श्रेष्ठकवि द्वारा ज्यों का त्यों अपनाना असंभव है। फिर उपर्युक्त टिप्पणी में स्पष्टतः गाथाकार को कई अंशों में बिहारी से श्रेष्ठ ठहराया गया है। ऐसी स्थिति में भला बिहारी गाथा का भाव ज्यों का त्यों कैसे अपना सकते हैं? उससे यह भी प्रकट होता है कि शिरीष कुसुम को जो सुकुमारता का प्रतीक माना गया है नायिका के सौन्दर्य के लिए अप्रस्तुत के रूप में लाया गया है। म्लान विशेषण से उसका काव्य सौन्दर्य और भी बढ़ गया है। प्रारंभ में यह भी कहा गया है कि निरदयी और सुरत विरम्भ एक से वजन के हैं।

'निरदयी और 'सुरतविरम्भ एक (एक से हो नहीं) कैसे माने जा सकते हैं। विरम्भ में जो चतुरता शोकातुरता और नागरता के भाव सन्निहित हैं वे निरदयी में तो आने से रहे। निरदई की व्यंजना दुहरी है। एक ओर तो इससे नायिका के प्रति गहरी सहानुभूति प्रकट की गई है दूसरी ओर नायक को उसकी कठोरता के कारण उपालम्भ-सा दिया गया है। शिरीष कुसुम का कुम्हला जाना और बात है तथा किसी भी पुष्प को हाथों से दलमल कर

मलिन बना देना और बात। केवल शास्त्र विहित प्रतीक रख देने से कोई काव्य श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता। बिहारी ने यथार्थ को अधिक निकट से पकड़ा है। गाथा की प्रथम पंक्ति उतनी व्यंजक नहीं है जितनी बिहारी की दूसरी पंक्ति।

अमरु शतक का एक अति प्रसिद्ध श्लोक देखिए—

> शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै-
> र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
> विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं,
> लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥ ८२॥

कुछ इसी तरह का मिलता जुलता भाव बिहारी ने अपने निम्नलिखित दोहे में प्रकट किया है—

> मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुँह चूम्यौ ढिग जाय।
> हँस्यौ, खिस्यानी, गल गह्यौ रही गरैं लपटाय॥

पं. पद्मसिंह शर्मा ने अपने तरीके से बिहारी की प्रशंसा की है। किन्तु कौन अच्छा है कौन कम अच्छा—यह नहीं कहा जा सकता। अभिव्यक्त भावों में बहुत समानता होने पर भी दोनों की अलग-अलग विशेषताएँ हैं। पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र से काफी दूर तक सहमत हुआ जा सकता है कि 'रससिद्ध कवि बिहारी में अथवा स्वच्छन्द कवि घनआनंद आदि में पिष्टपेषण या चर्वित चर्वण नहीं है। श्रेष्ठ कवियों में चर्वित-चर्वण हो ही नहीं सकता क्योंकि वे पुरानी उक्तियों को नवीन बना देने में सर्वथा समर्थ होते हैं।

अमरु शतक और बिहारी सतसई के एक-एक पद्य और लीजिए—

> याताः किं न मिलन्ति सुन्दरि पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते।
> नो कार्या नितरां कृशासि कथयत्येवं सबाष्पे मयि॥
> लज्जामन्थर तारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा।
> दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः॥
>
> × × × ×
>
> बिलखी डभकौंहैं चखन तिय लखि गवन बराइ।
> पिय गहबरि आयैं गरैं राखी गरैं लगाइ॥

अमरु का नायक अपने सखा से कहता है—मैंने यात्रा के समय प्रिया से कहा कि तू चिन्ता मत कर, क्या जाने वाले पुनः मिलते नहीं ? तू तो यों

दुखती है—बहुत बहुत मेरी आँखें भर गईं। मज्जायुक्त मंथर तारावाली आँखों के पतनोन्मुख आँसुओं को रोक कर उसने अमंगल सूचक मरण की सूचना दी। मैंने अपना गमन रोक दिया। पर बिहारी ने अपने दोहे की लघु सीमा में उसी भाव को नए ढंग से कहा है। निश्चय ही अनुभावों के सहारे बिहारी ने भाव को काफी गंभीर बना दिया है।

आर्या सप्तशती के भावों की छाया भी बिहारी के दोहों में मिलती पर उनसे बिहारी की मौलिकता कुंठित नहीं हुई है—

> भ्रामं भ्रामं स्थितया स्नेहे तव पयसि तत्र तत्रैव।
> आवर्तपतितनौकायितमनया विषमपल्लीप॥
>
> —गोवर्धन

> फिरि फिरि चित उत ही रहत, टुटी लाज की लाव।
> अंग अंग छवि भौंर में भयौ भौंर की नाव॥
>
> —बिहारी

सिद्ध हेमचन्द्र का एक दूहा देखिए—

> भमरा एत्थु वि लिम्बडइ के वि दियहडा विलम्बु।
> घणपत्तलु छायाबहुलु फुल्लइ जाम कयम्बु॥

हे भौंरे। सघन पत्र और छाया बहुल कदंब जब तक नहीं फूल जाता तब तक यहीं ठहर।

इससे मिलता जुलता बिहारी का दोहा है—

> इहीं आस अटक्यौ रहत अलि गुलाब के मूल।
> ह्वै है फेरि बसंत ऋतु इन डारनि वे फूल॥

इसकी अपेक्षा अलग विशेषताओं को देखते हुए 'का बड़ छोट' कहत बड़ थोरु की कल्पना जागरित होती है। सिद्ध हेमचन्द्र ने वसंत का नाम नहीं लिया है इससे उसकी व्यंजकता अधिक बढ़ गई है पर इसमें बिहारी की अपनी मौलिकता में कमी नहीं आई है।

यहाँ पर कुछ तुलनात्मक पदों को उद्धृत करने का मेरा अभिप्राय केवल इतना ही था कि बिहारी ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को अपने

ढंग से अपनाया जरूर है। ऐसा करना किसी तरह का अपराध नहीं माना जा सकता प्रायः सभी कवियों ने ऐसा किया है पर बात यह है कि ऐसा करने में पुनरावर्तन न हो पिष्टपेषण न हो।

यह ऐतिहासिक चेतना का विशिष्ट और अपरिहार्य अंग है। इस सिल सिले में टी० एस० ईलियट के नाम से यदि किसी को चिढ़ हो तो वह शौक से आनन्दवर्धनाचार्य को याद कर सकता है—

स एव पदविन्यासा ता एवार्थ विभूतयः।
तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथन कौशलात्॥

१

बिहारी के प्रेम का स्वरूप

मानवीय जीवन को सरस और सुखद बनाने के लिए प्रेम की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। प्रेम के अनेकात्मक रूपों में नर-नारी का प्रेम सर्वाधिक पुष्ट तथा तादात्म्यमूलक होता है। इस प्रेम के स्तरों के संबंध में विचार करने पर स्थूल रूप से इसमें तीन स्तर माने जा सकते हैं—भौतिक मानसिक और आध्यात्मिक। किन्तु इन स्तरों को अलग-अलग कठघरों में बाँट देना मनोवैज्ञानिक नहीं माना जा सकता। प्रथम भौतिक रूप में भी प्रेम मात्र भौतिक नहीं हो सकता। शारीरिक मिलन के पूर्व भी जिस प्रकार के उल्लास पूरक आनन्द या पीड़ा का अनुभव प्रेमी को होता है उस प्रकार का अनुभव किसी अन्य भौतिक उपलब्धि द्वारा नहीं हो पाता। प्रेमिका के आत्मिक सौंदर्य—भावनात्मक तथा बौद्धिक सौंदर्य—का कम मूल्य नहीं आँका जा सकता। फिर भी प्रेमाभिव्यक्ति में भौतिक आकर्षण—शारीरिक आकर्षण के महत्त्व को झुठलाया नहीं जा सकता। सौंदर्य के वस्तु परक पक्ष का वर्णन साहित्यकारों का बहुत ही प्रिय विषय रहा है। यहीं पर पुराना सवाल उठ खड़ा होता है कि क्या सौंदर्य वस्तु निष्ठ है? इसके उत्तर में यही कहा जायगा कि यह आंशिक रूप में सही है। साहित्य शास्त्र के आचार्यों ने नारी के प्रत्येक अंग का जो निरूपण कर रखा है उसके लिए जो अप्रस्तुत चुन रखा है वह सौंदर्य की वस्तुनिष्ठता का द्योतक है। पर इस वस्तु निष्ठ सौंदर्य को एक-

विशेष संदर्भ में सौंदर्य तब माना जायगा जब वह प्रेमी के आकर्षण का हेतु हो सके। इसीलिए सौंदर्य शास्त्रियों ने विषय और विषयि के पारस्परिक संबंधों में सौंदर्य की संनिहिति मानी है।

प्रेम का मानसिक स्तर—वह है जहाँ पहुँच कर भौतिक आकर्षण की अपेक्षा मानसिक सौंदर्य के प्रति मन की ललक अधिक दिखाई पड़े। इससे उत्पन्न उल्लास से एक व्यापक सौंदर्य चेतना आविर्भूत होती है जीवन का अनुकूल कमनीय नवीन स्पन्दन सुनाई पड़ता है। इसके द्वारा जो संवेदना अथवा संवेग जागरित होता है वह व्यक्ति-विशेष के प्रति केन्द्रित होते हुए भी उसका अतिक्रमण कर जाता है। रोमांटिक प्रेम का यही स्तर है। आध्यात्मिक प्रेम में प्रेमी आत्म-केन्द्र बद्ध नहीं रह जाता उसका केन्द्र ऐसा व्यापक हो जाता है कि वह केन्द्र केन्द्र न रह कर वृत्त में बदल जाता है।

कहना न होगा कि रीति-कवियों का प्रेम पहले प्रकार का है अर्थात् वह भौतिक धरातल से ऊपर नहीं उठ पाता। उनके प्रेम का मुख्य प्रेरक स्रोत शरीरी सौंदर्य है और उसकी चरम परिणति भी यही है। बिहारी का कहना है—

> लो तन अवधि अनूप रूपु लग्यौ सब जगत को।
> मो दृग लागे रूप दृगनु लगी अति चटपटी॥

यहाँ पर नायक के दृग नायिका के रूप से लग गए हैं अर्थात् उस पर अनुरक्त हो गए हैं। बिहारी की यही रूप की रमणीयता के प्रति आकृष्ट होना सहृदय का सहज धर्म है। किन्तु प्रेम के संबंध में बिहारी तथा अन्य रीति कवियों की मान्यताएँ सर्वथा लौकिक स्तर पर ही रह गई हैं। लौकिक स्तर का मतलब यह नहीं है कि यहाँ पर किसी पारलौकिक या अलौकिक स्तर की माँग की जा रही है। इसका इतना ही अर्थ है कि उनके प्रेम वर्णन में हृदय को व्यापक बनानेवाली प्रकाश की किरण नहीं है—

> सरस सुमिल चित तुरग की करि करि अमित उठान।
> गोइ निबाहैं जीतिये खेलि प्रेम चौगान॥

यहाँ पर प्रेम चौगान का खेल है—सचमुच में बिहारी का मन इस खेल में खूब रमा है। इसमें अनेक प्रकार के दाँव पेंच तुरग फिरी की जरूरत पड़ती है। इस चौगान को जीतने के लिए अमिट अभ्यास की आवश्यकता होती है जिसमें रीति काव्य के नायकों को काफी कमाल हासिल है। रीति

काव्यों के नायक अनेक प्रकार के सामाजिक प्रतिबंधों के कारण खुल कर प्रेम नहीं कर सकते थे। उनके प्रेम में वह आवेग नहीं था जो इन प्रतिबंधों को अपनी प्रखर धारा में बहा ले जाता। प्रेम में भी सोच समझकर फूँक फूँककर कदम रखना होगा जिससे अन्य लोगों से छिपकर अपने कार्य में सफलता प्राप्त की जा सके। चौगान खेल को रीति कविता में प्रेम का प्रतीक माना जा सकता है। इसके ठीक विपरीत स्वच्छंद काव्य धारा के कवियों ने इस ही बात कहा—

अति सूधो सनेह को मारग है जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपनपौ झिझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥
—घन आनंद।

लोक की लाज औ सोच प्रलोक को वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ।
गाँव को गेह को देह को नातो सनेह में हाँतो करै पुनि सोऊ॥
बोधा सुनीति निबाह करै धर ऊपर जाके नहीं सिर होऊ।
लोक की भीति डेरात जो मीत तौ प्रीति के पैंड़े परै जनि कोऊ॥
—बोधा।

उन्होंने प्रेम को वह नई मर्यादा दी जो लोक शास्त्र विरुद्ध मान्यताओं को अतिक्रमित कर जाती है। उन्हें लौकिक बंधनों की कोई चिंता नहीं है। प्रतिमानगामी व्यक्ति जैसा पहले कहा जा चुका है यथार्थ को नई दृष्टि से देखता है वह ऐसे सत्य मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है जो परम्परा के मेल में नहीं होते। वह निर्भीक होकर प्रेम पथानुगामी होता है वह गुमराह करनेवाले पथावरोधी तत्त्व लोक-लाज व समस्त समाज की निंदा आदि को—अगम्य मानता है। उसके प्रेम के मूल में भी आसक्ति है पर वह उसका निज स्वार्थ नहीं है। प्रेम उसके जीवन मरण का सवाल बन गया है।

प्रेम की महत्ता और गहराई के संबंध में बिहारी जैसे विदग्ध कवि अनभिज्ञ नहीं थे। जिस कवि ने शास्त्रीय परंपराओं का इतना मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया हो वह प्रेम के महत्त्व से अनभिज्ञ हो ऐसा नहीं माना जा सकता। इन्होंने लिखा है—

गिरि तें ऊँचे रसिक मन बूडे जहाँ हजार।
वहै सदा पसु नरन कौं प्रेम पयोधि पगार॥

इस दोहे में रसिकों की ऊँचाई और प्रेम पयोधि की निमग्नता के साथ साथ उसे छिछली सरिता समझनेवाले नर पशुओं का भी उल्लेख किया गया है। 'पसुनरन' शब्द कवि की झल्लाहट का द्योतक है, प्रेम की वास्तविक महत्ता को न समझ कर उस पर टीका टिप्पणी करनेवालों पर गहरा व्यंग्य है। उनका प्रेम समुद्र की भाँति प्रगाढ़ निर्बाधित और अनंत है फिर भी उसी की भाँति अपनी सीमाओं में रहनेवाला। यही नहीं उन्होंने उपचार निरपेक्ष प्रेम की भी चर्चा की है—

> कैसु न सुरसी बिरह भर बेह घता झुमिड़ाति।
> मित मित होति हरी हरी, खरी भावरति खाति॥

इसे कालिदास के उस श्लोक की प्रतिध्वनि समझनी चाहिए जिसमें विरह प्रेम के राशीभूत होने का उल्लेख हुआ है—

> 'स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगात्।
> इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति॥

यही नहीं सज्जन के स्नेह का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

> चटक न छाँड़त घटत हूँ सज्जन नेहु गंभीर।
> फीको परै न बरु फटै, रंग्यौ चोलरंग चीर॥

सज्जन का स्नेह चोलरंग में रँगे चीर की भाँति फट जाने पर भी जाता नहीं। पर इन स्फुट उक्तियों को परंपरा का ही आग्रह समझना चाहिए, बिहारी की अपनी मान्यताओं का नहीं। व मावर कवि के व्यक्ति थे और नागर संस्कृति को उन्होंने खुली अभिव्यक्ति दी है। इस अर्थ में वे अन्य रीति कवियों से कुछ भिन्न थे। जहाँ अन्य कवियों को पहले के संस्कारों का भय था वहाँ बिहारी इससे बहुत कुछ मुक्त थे। भयग्रस्त रीति कवियों ने एक ओर यथा अवसर ऊँचे ऊँचे आदर्शों की दुहाई दी है वहाँ दूसरी ओर खुले शृंगार का वर्णन भी किया है। बिहारी में इस तरह का खास अंतरविरोध नहीं दिखाई देगा। इसलिए उनकी सतसई में तत्कालीन सामंतीय प्रेम का जितनी ईमानदारी से चित्रण हुआ है उतनी ईमानदारी से अन्य समसामयिक काव्यों में नहीं हुआ है। जिस क्रीड़ा परक प्रेम का चित्र उन्होंने उरेहा है वह पूर्णतः सामंतीय है।

पहले कहा जा चुका है कि रीति काव्यों के प्रेम का मुख्य आकर्षण केंद्र शरीरी सौंदर्य था। बिहारी ने इसका वर्णन चार रूपों में किया है—प्रभावात्मक रूप में वस्त्राभूषणों के बीच में घरेलू वातावरण में और परंपरा के मेल में।

प्रभावात्मक

जहाँ कवि क्रिया से सर्वथा मुक्त होकर सौन्दर्य की प्रभावान्विति का वर्णन करता है वहाँ पाठकों की ऐन्द्रिय चेतना को सर्वाधिक उद्बुद्ध करने में सक्षम होता है। स्वयं सौंदर्य किसी अंग विशेष में नहीं होता और न तो अंगों के सुषम संस्थान में ही उसकी सम्स्थिति स्वीकार की जा सकती है। सब मिला जुलाकर वह ऐसा प्रभाव होता है जो हमारी रागात्मिका वृत्ति को उभाड़ देने में पूर्णत समर्थ होता है। प्रभाव मूलक सौंदर्य का एक उत्कृष्ट चित्र देखिए—

अंग अंग छवि की लपट उपजति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ लगी भरी सी देह॥

मुक्तामणि की आभा के सारल्य की भाँति अंगों में प्रतिभासित होनेवाला लावण्य सौंदर्य है। नायिका के अंग अंग में छवि की लपट निरन्तर उभरती जाती है। यद्यपि कवि का मुख्य लक्ष्य यही है फिर भी इतने से उसके लावण्य को उचित रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसके लिए उसकी छवि द्वारा उठती हुई तरंगों का जो परिवेश निर्मित किया गया है उसके द्वारा उसकी तनुता भरी भरी सी लगती है। यहीं नायिका के सौंदर्य को ऐन्द्रिय और प्रभावात्मक बना सका है। इस दोहे की श्रेष्ठता जिस पर निर्भर है अभी यह प्रश्न अनुत्तरित सा ही रह गया। इसका उत्तर पाने के लिए एक दूसरा दोहा भी देखना पड़ेगा—

अंग अंग नग जगमगत दीप सिखा सी देह।
दिया बढ़ाएँ हू रहै बड़ो उजारो गेह॥

नायिका के अंग अंग के (आभूषणों के) नग उसकी दीप शिखा सी देह से जगमगाते रहते हैं। इसलिए दीपक बुझा देने पर भी घर में बड़ा उजाला (प्रकाश) रहता है।

इस दोहे में भी रूप की द्युति का ही वर्णन किया गया है। दोनों दोहों में छवि की लपटों या दीपशिखा की निर्धूम लौ के प्रभावों की व्यंजना की गई है। पर जहाँ पहले का प्रभाव यौवन और अंगों की अनुभूत छवियों में बाँध दिया गया है वहाँ दूसरे का प्रभाव एक मिथ्या और काल्पनिक गन्ध में बाँधा गया है। पहले दोहे में छवि की लपट और उससे उत्पन्न प्रभाव के अंतर्सम्बन्ध को इस ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि पाठकों के पास तरह का वे सहज ही प्र

करते हैं। दूसरे दोहे में दीपशिखा की देह तथा प्रकाश का अंतरसंबंध स्थापित ही नहीं हो पाया है। इन संबंधों को बहिःसंबंध ही कहा जायगा। यह चमत्कार विधायक तो है पर रस विधायक नहीं। खेद है कि विशुद्ध प्रभावात्मक रूप चित्र बिहारी में कम है।

वस्त्राभूषणों के बीच

रीति-कवियों ने नायिका के सहज सौन्दर्य पर उतना ध्यान नहीं दिया है जितना उसके अलंकृत सौन्दर्य पर। रीतिकालीन वैभव-विलास के अनुकूल नायिकाओं का भी उन्मादक चित्र खींचना उनकी रुचि के अधिक अनुकूल था। वस्त्राभूषण नायिका के आभिजात्य के सूचक शालीनता के रक्षक सौन्दर्य के अभिवर्द्धक और मादक प्रेम के उद्दीपक हैं। वे अपनी रंगीन छाया से नायिका में नवीन आकर्षण और मादकता भर देते हैं। इस तरह के सौन्दर्य चित्र बिहारी में ढेर के ढेर मिल जायेंगे। एक एक करके कुछ उदाहरण देखिए—

(१) सहज सेत पँचतोरिया पहिरत अति छबि होति।
जल चादर के दीप लौं जगमगाति तन-ज्योति॥

पँचतोलिया एक प्रकार का अत्यन्त बारीक महीन वस्त्र है उसकी पूरी साड़ी तौल में केवल पाँच तोले की होती है। इस वस्त्र के पहनने से नायिका की शोभा विशेष बढ़ जाती है। 'स्वभावरमणीयानि भूषितानि अतिरमणीयं भवन्ति'। स्वभाव से ही रमणीय नारी वस्त्राभूषणों से मंडित होने पर और भी रमणीय हो जाती है। धनिकों के किसी उद्यान में किसी-किसी ऊँचे स्थान से जल का झीना तथा विस्तृत प्रवाह गिराया जाता है यह जलचादर कहलाता है। किसी-किसी जलचादर के पीछे से जगमगाती हुई दीपावली बड़ी शोभा देती है। इसी दीपावली को बिहारी ने 'जलचादर के दीप' कहा है। पँचतोलिया से आवृत नायिका के शरीर की पीताभ कांति जलचादर के पीछे रखे हुए दीपकों की भाँति जगर-मगर करती हुई शोभित हो रही है।

यहाँ पर भी वही पुराना प्रश्न उठता है कि यदि सौंदर्य का यह चित्र श्रेष्ठ है तो क्यों? इस क्यों का उत्तर ही मूल्यांकन है छंदों का अन्वय मात्र न तो आलोचना है और न मूल्यांकन। श्वेत पँचतोलिया वस्त्र से झाँकता हुआ नायिका का पीताभ सौन्दर्य उसी प्रकार से शोभन प्रतीत होता है जिस प्रकार से जलचादर के पीछे से जगमगाती हुई दीप दिखाएँ। इस चित्र की

श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर है कि कवि की वास्तविकता से कहाँ तक संबंध स्थापन कर सका है और स्वयं वह वास्तविकता किस प्रकार की है। नायिका की छवि मानसिक वास्तविकता (Psyobic reality) है और अलंकार का दीप भौतिक वास्तविकता (Physical reality)। निश्चय ही इनके संबंध स्थापन में कवि को सफल कहा जा सकता है। अप्रस्तुत ने नायिका के पारदर्शी सौन्दर्य को जिस ढंग से प्रत्यक्षीकृत किया है वह सराहनीय है।

प्रभावात्मक चित्र की अपेक्षा यह अधिक रंगीन और रंजक है किन्तु यह उतना संवेदनात्मक नहीं कहा जा सकता। उतना संवेदनात्मक का अर्थ यह नहीं है कि यह संवेदनात्मक नहीं है। यह केवल संवेदना के दर्जों का सवाल है।

(२) छिप्यौ छबीलौ मुँह लसै नीलै अंचर-चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै कालिंदी के नीर॥

इस सौन्दर्य चित्र में जो संबंध स्थापन किया गया है वह भी कृत्रिम ही है पर इसमें साम्यकथन संवेदना के रूप में हुआ है। इसलिए इसकी संवेदनात्मक गहराई भी ग्राह्य है। उत्प्रेक्षा के रूप में जो अप्रस्तुत ले आया गया है वह पहले उदाहरण में ले आए गए अप्रस्तुत की अपेक्षा अधिक व्यापक और सार्वजनीन है। पर पहले उदाहरण की तरह यह न तो रंजक है और न प्रभावात्मक। बात यह है कि इसका अप्रस्तुत नाटकीय है जो सामान्यतः रचना के क्रम में गृहीत होता है। अथवा अयथास्थान प्रयुक्त होने के कारण यह अपेक्षाकृत श्रीहीन लगता है।

(३) चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पट झीन।
मानहु सुर सरिता बिमल जल उछरत जुग मीन॥

इसका अप्रस्तुत भी संभावनामूलक है। लेकिन संभावनामूलक अप्रस्तुत में भी दर्जों का अन्तर स्वीकार करना होगा। पहले और दूसरे उदाहरणों की अपेक्षा इसका अप्रस्तुत प्रस्तुत का ऐन्द्रिय बिंब उपस्थित करने में असमर्थ है। उछलते हुए 'युगमीन' चमकती हुई चंचल आँखों का दृश्य खड़ा करने में निष्फल प्रतीत होते हैं।

इस तरह के रूप-चित्रों में बिहारी की प्रतिभा जहाँ रम गयी है वहाँ के चित्र निश्चय ही सजीव बन गए हैं।

परंपरा

यद्यपि बिहारी ने कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा फिर भी उनकी दृष्टि से लक्षण ओझल नहीं थे। उनपर रीति परंपरा और शास्त्रीय रूढ़ियों का गहरा प्रभाव था। नायिका का नख-शिख रूप वर्णन संस्कृत कवियों का भी प्रिय विषय था। रीतिकाल में तो नख-शिख वर्णन की सर्वाधिक बहुलता दिखाई पड़ती है। बिहारी ने नख-शिख का वर्णन क्रमबद्ध रूप में नहीं किया है पर अधिकांश रूपात्मक प्रसंगों का जो चित्रण उन्होंने प्रस्तुत किया है वह परंपरामुक्त ही है। कुछ उदाहरण देखिए—

केश—

१—सहज सचिक्कन स्यामरुचि सुचि सुगंध सुकुमार।
गनत न मन पथ अपथ लखि बिथुरे सुथरे बार॥

भौंह—

२—चितवनि भौंह कमान गहि रचना बरुनी सलाक।
बढ़ति तुरंगम ताम धातु बँकाई ही बढ़ै॥

नयन—

३—बर जीते सर मैन के ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनान तें हरि नीके ये नैन॥

मुख—

४—पूर उदित हू मुदित मन मुख-सुखमा की ओर।
चितै रहत चहुँ ओर तें निश्चल चखनि चकोर॥

५—पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहुँपास।
नित प्रति पून्यौई रहत आनन ओप उजास॥

हास्य—

६ नेंकु हँसौंही बानि तजि लख्यौ परत मुख नीठि।
चौका चमकनि चौंध में परत चौंधि सी डीठि॥

कटि—

७—ज्यौं-ज्यौं जोबन जेठ दिन कुच मिति अति अधिकाति।
त्यौं त्यौं छिन कटि छपा छीन परति सी जाति॥

जंघा—

८—जंघ जुगल लोयन निरे करे मनौ बिधि मैन।
केलि तरुन दुख दैन ए केलि तरुन सुखदैन॥

एँड़ी—

९—पाय महावर देन कौं नाइन बैठी आय।
फिरि फिरि जानि महावरी एँड़ी मींड़त जाय॥

पगतल—

१०—पग पग मग अगमन परति चरन अरुन दुति झूलि।
ठौर ठौर लखियत उठे दुपहरिया से फूलि॥

उपर्युक्त उदाहरणों में (अंतिम को छोड़कर) जिन अवयवों का सौन्दर्य कथन हुआ है वे हमारे सौंदर्य-बोध को किंचित् मात्र भी उद्बुद्ध नहीं कर पाते। इनमें बाह्य वास्तविकताओं से जो अवयव-स्थापन हुआ है वह कृत्रिम है। पूर्णोदय होने पर भी चकोर का मुख-सुषमा की ओर इतना चमत्कारमूलक है सबलतामूलक नहीं। यह चमत्कार भी घटिया दर्जे का ही कहा जायगा। 'पत्रा ही तिथि पाइये' के सम्बन्ध को वास्तविकता से घोर ही दूर है इसलिए उसका सौन्दर्य उर्दू शायरी की विलक्षणता का भी अतिक्रमण कर जाता है। इसी प्रकार यौवन को उपस्थ का चिह्न और कटि की गति बढ़ना कितना असंगत है। यह यथार्थ जगत से कितना दूर है। काव्य में प्रयुक्त अप्रस्तुत हमारे अनुभव जगत में जितने दूर होंगे प्रस्तुत अप्रस्तुत का अवयव-स्थापन उतना ही कृत्रिम होगा काव्य पाठकों को रसावेश की स्थिति में ले जाने में उतना ही असमर्थ होगा। 'हरिनी के नैनान' 'केलितरुन' आदि तो घिसे-पिटे अप्रस्तुत हैं ही।

संयोग

रीति-काव्य में संयोग शृंगार के प्रति जितनी ललक दिखाई पड़ती है उतनी वियोग-शृंगार के प्रति नहीं। संयोग शृंगार का मूलाधार शारीरिक आकर्षण है 'जो अनेक प्रकार के स्पर्शों अंगक्रियाओं चेष्टाओं वाचिक और शारीरिक विकारों मानसिक दशाओं आदि में प्रस्फुट होता है'[1]। इस प्रसंग में कवि परंपरा से गृहीत षट्ऋतुवर्णन विहार मद्यपान क्रीड़ा हास्य आदि का वर्णन करते आए हैं। इनमें चुम्बन स्पर्श संभोग आदि के सहारे

१—रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना डा० बच्चन सिंह पृ० १४१

संयोग का महत्व खड़ा किया जाता है इसलिए इसका समावेश भी इस काल की कविताओं में खूब हुआ है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इन कवियों का—विशेष रूप से बिहारी का मन—क्रीड़ा-परक प्रेम में बहुत अच्छी तरह रमा है। इसके फलस्वरूप इनकी सतसई में सुरति-चित्रों का भूरिश उल्लेख हुआ है। जिस हाव-योजना या भंगिमा-वर्णन के लिए बिहारी की अत्यधिक प्रशंसा की जाती है उसके मूल में भी यही प्रवृत्ति समझनी चाहिए।

भंगिमाएँ

भंगिमाएँ दो प्रकार की मानी जा सकती हैं—स्वाभाविक और सचेष्ट। स्वाभाविक भंगिमा वह होती है जिसमें अपने व्यापार के मूल में व्यक्ति का कोई मनोविकार अनुस्यूत नहीं रहता। सचेष्ट भंगिमा सोद्देश्य होती है। एक विशेष प्रकार की भंगिमा जो संयोगेच्छा सूचक होती है काव्य-शास्त्र में 'हाव' कही जाती है। बिहारी सतसई में दोनों प्रकार की भंगिमाओं के चित्र मिलते। पर शृंगार-काव्य में निरपेक्ष भंगिमाओं का कोई महत्व नहीं है। इसलिए स्वाभाविक भंगिमाओं को भी द्रष्टा की प्रतिक्रियाओं से बाँध दिया गया है। दूसरे शब्दों में इन भंगिमाओं को नायक की दृष्टि से ग्रस्त किया गया है। पहले हम इसी का विवेचन करना चाहेंगे। एक उदाहरण देखिए—

ज्यौं उझकि झँपति बदनु, झुकति बिहँसि सतराइ।
त्यौं गुलाल झुठी-मुठी झझकावत प्यौ जाइ॥

यह फाग का अवसर है। नायक नायिका पर गुलाल फेंकने के लिए प्रस्तुत है। आँखों में गुलाल पड़ जाने के भय से वह घूँघट में मुँह छिपाती है कुछ झुक जाती है फिर हँस देती है आखिर में झल्ला भी जाती है। नायक को उसकी चेष्टाएँ इतनी सुखद प्रतीत होती हैं कि वह फिर-फिर उन्हें देखने की अभिलाषा से झूठे ही मुट्ठी ताने रहता है। यहाँ चेष्टा का सुख कितना काम्य हो उठा है। इस खेल का एक दूसरा दृश्य देखिए—

नाक चढ़ै सीबी करै जितै छबीली छैल।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कँकरीली गैल॥

इसके अवतरण का उल्लेख करते हुए रत्नाकरजी ने लिखा है—'नायक नायिका दोनों कहीं जा रहे हैं। मार्ग का एक भाग तो लोगों के चलते चलते

निकला रह गया है और दूसरा भाग कँकरीला है। नायक प्रेम के मारे नायिका को तो पक्की पगडंडी पर चलाए जाता है और स्वयं उसके साथ साथ चलने के कारण कँकरीले भाग पर चलता है जिससे उसके पाँव में कँकड़ियाँ चुभती हैं। उसकी चेष्टा से यह बात ज्ञात करके नायिका प्रेमाधिक्य के कारण उसकी पीड़ा से पीड़ित होकर सीबी करती और नायक को उस मार्ग से चलने से बरजती है नायक उसका कहना मानकर कुछ दूर तो इस प्रकार मिलकर चलता है कि उसको कँकड़ियाँ न गड़ें पर नायिका का वह नाक चढ़ा कर सीबी करना उसे ऐसा भा गया कि वह फिर जानबूझ कर उसके छिपाने तथा उसकी वह मोहिनी चेष्टा देखने के निमित्त ऐसा करता है और वह फिर उसी प्रकार नाक चढ़ाकर सीबी करे।

यहाँ भी 'सीबी' का व्यापार निरर्थक है पर नायक को उससे सुखानुभूति प्राप्त होती है। कुछ उदाहरण और लीजिए—

(१) बिहँसति सकुचति सी दिये कुच-आँचर बिच बाँह।
भीजे पट तट को चली न्हाय सरोवर माँह॥

(२) चलत निकसि कुच-कोर-रुचि कढ़त गौर भुज मूल।
मनु लुटि गो लोटनु चढ़त चोंटत ऊँचे फूल॥

(३) भरे दरीची छिनि परी, छिबि दै बेदि उतारि।
सोंहैं है छोड़ैं छुवी, ऐसीं रहि नारि॥

पहले उदाहरण पर एक टिप्पणी देखिए—

'स्तन नारी का सर्वाधिक आकर्षक अंग है। स्नानोपरान्त भीगा वस्त्र उसके शरीर से चिपट जाता है। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार वह बाँहों से स्तनों को ढँक लेती है। कामजन्य डर के अभाव में लज्जा की भावना उद्दीप्त नहीं होती। एकान्त स्थान में स्नान करती हुई स्त्री के लिए आवरण इतना बहुत आवश्यक नहीं है। यह काम जन्य संकोच दूसरे व्यक्ति के सामने ही उत्पन्न होता है विशेष रूप से पुरुष के सामने। स्पष्ट इससे भी बात है कि बिहारी की नायिका सरोवर में स्नान रही है। इस तट पर बिहारी जैसे रसिक का उपस्थित रहना होगा। अतः ग्रामीण नायिका के लिए आवश्यक था कि वह अपनी बाँहों से स्तनों को ढँक लेती। विद्यापति की सद्यःस्नाता नायिका के सामने कोई पुरुष या नारी नहीं है। अतः कवि को उसके नग्न सौन्दर्य के वर्णन में कोई आलोचना जन्य बाधा नहीं प्रतीत हुई। 'यह

संयोग का महत्त्व बड़ा किया जाता है इसलिए इनका समावेश भी इस काल की कविताओं में खूब हुआ है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इन कवियों का—विशेष रूप से बिहारी का मन—क्रीड़ा-परक प्रेम में बहुत अच्छी तरह रमा है। इसके फलस्वरूप इनकी सतसई में सुरति-चित्रों का 'भूरिशः' समावेश हुआ है। जिस हाव-योजना या भंगिमा-वर्णन के लिए बिहारी की अत्यधिक प्रशंसा की जाती है उसके मूल में भी यही प्रवृत्ति समझनी चाहिए।

भंगिमाएँ

भंगिमाएँ दो प्रकार की मानी जा सकती हैं—स्वाभाविक और सचेष्ट। स्वाभाविक भंगिमा वह होती है जिसमें अपने व्यापार के मूल में व्यक्ति का कोई मनोविकार अनुस्यूत नहीं रहता। सचेष्ट भंगिमा सोद्देश्य होती है। एक विशेष प्रकार की भंगिमा जो संभोगेच्छा सूचक होती है काव्य-शास्त्र में 'हाव' कही जाती है। बिहारी सतसई में दोनों प्रकार की भंगिमाओं के चित्र मिलते। पर शृंगार-काव्य में निरपेक्ष भंगिमाओं का कोई महत्त्व नहीं है। इसलिए स्वाभाविक भंगिमाओं को भी द्रष्टा की प्रतिक्रियाओं से बाँध दिया गया है। दूसरे शब्दों में इन भंगिमाओं को नायक की दृष्टि से ग्रहण किया गया है। पहले हम इसी का विवेचन करना चाहेंगे। एक उदाहरण देखिए—

ज्यौं उझकि झाँपति बदनु, झुकति बिहँसि सतराइ।
त्यौं गुलाल मुठी झुठी झझकावत प्यौ जाइ॥

यह फाग का अवसर है। नायक नायिका पर गुलाल फेंकने के लिए प्रस्तुत है। आँखों में गुलाल पड़ जाने के भय से वह घूँघट में मुँह ढाँपती है कुछ झुक जाती है फिर हँस देती है आखिर में सतरा भी जाती है। नायक को उसकी चेष्टाएँ इतनी सुखद प्रतीत होती हैं कि वह फिर-फिर उन्हें देखने की अभिलाषा से झूठे ही मुट्ठी ताने रहता है। यहाँ चेष्टा का सुख कितना काम्य हो उठा है। इस खेल का एक दूसरा दृश्य देखिए—

नाँक चढ़ै सीबी करै जितै छबीली छैल।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कँकरीली गैल॥

इसके अवतरण का उल्लेख करते हुए रत्नाकरजी ने लिखा है—'नायक नायिका दोनों कहीं जा रहे हैं। मार्ग का एक भाग तो लोगों के चलते चलते

चिकना हो गया है और दूसरा मार्ग कँकड़ीला है। नायक प्रेम के मारे नायिका को तो अच्छी पगडंडी पर चलाए जाता है और स्वयं उसके साथ साथ चलने के कारण कँकड़ीले मार्ग पर चलता है जिससे उसके पाँव में कँकड़ियाँ चुभती हैं। उसकी चेष्टा से वह बात ज्ञात करके नायिका प्रेमाधिक्य के कारण उसकी पीड़ा से पीड़ित होकर सीबी करती और नायक को उस मार्ग से चलने से बरजती है नायक उसका कहना मानकर कुछ दूर तो इस प्रकार निभर कर चलता है कि उसको कँकड़ियाँ न गड़ें पर नायिका का वह मौंह चढ़ा कर सीबी करना उसे ऐसा भा गया कि वह फिर जानबूझ कर उसके चिढ़ाने तथा उसकी वह मोहिनी चेष्टा देखने के निमित्त ऐसा करता है और वह फिर उसी प्रकार भौंह चढ़ाकर सीबी करे।

यहाँ भी 'सीबी' का व्यापार निरपेक्ष है पर नायक को उसमें सुखानुभूति प्राप्त होती है। कुछ उदाहरण और लीजिए—

(१) बिहसति सकुचति सी दिये कुच आँचर बिच बाँह।
भीजे पट तट को चली न्हाय सरोवर माँह॥

(२) चलत निकसि कुचकोर-रुचि कढ़त गौर भुज मूल।
मनु लुटि गो लोटनु चढ़त चोंटत ऊँचे फूल॥

(३) भरे दुरौंधी जिमि धरे जिमि ह्वै लेति उतारि।
नीकें ह्वै बीदें चुवै, पैसैं रहि नारि॥

पहले उदाहरण पर एक टिप्पणी देखिए—

'स्तन नारी का सर्वाधिक आकर्षक अंग है। स्नानोपरान्त भीगा वस्त्र उसके शरीर में चिपक जाता है। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार वह बाहों से स्तनों को ढँक लेती है। कामजन्य डर के अभाव में लज्जा की भावना प्रदीप्त नहीं होती। एकान्त स्थान में स्नान करती हुई स्त्री के लिए स्तन छिपा बहुत आवश्यक नहीं है। यह काम जन्य संकोच दूसरे व्यक्ति के सामने ही उत्पन्न होता है विशेष रूप से पुरुष के सामने। स्मरण रखने की बात है कि बिहारी की नायिका सरोवर से निकल रही है। इसके तट पर बिहारी जैसे रसिकों का जमघट लगा रहता होगा। अतः शालीन नायिका के लिए आवश्यक था कि वह अपनी बाहों से स्तनों को ढँक लेती। विद्यापति की सद्यःस्नाता नायिका के सामने कोई पुरुष या नारी नहीं है। अतः कवि को उसके नग्न सौन्दर्य के वर्णन में कोई शालीनता जन्य बाधा नहीं प्रतीत हुई। यह

संयोग का महत्त्व खड़ा किया जाता है इसलिए इनका समावेश भी इस काम की कविताओं में खूब हुआ है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इन कवियों का—विशेष रूप से बिहारी का मन—क्रीड़ा-परक प्रेम में बहुत अच्छी तरह रमा है। इसके फलस्वरूप इनकी सतसई में सुरति-चित्रों का भूरिशः उल्लेख हुआ है। जिस हाव-योजना या भंगिमा-चयन के लिए बिहारी की अत्यधिक प्रशंसा की जाती है उसके मूल में भी यही प्रवृत्ति समझनी चाहिए।

भंगिमाएँ

भंगिमाएँ दो प्रकार की मानी जा सकती हैं—स्वाभाविक और सचेष्ट। स्वाभाविक भंगिमा वह होती है जिसमें अपने व्यापार के मूल में व्यक्ति का कोई मनोविकार अनुस्यूत नहीं रहता। सचेष्ट भंगिमा सोद्देश्य होती है। एक विशेष प्रकार की भंगिमा जो संभोगेच्छा मूलक होती है काव्य-शास्त्र में 'हाव' कही जाती है। बिहारी सतसई में दोनों प्रकार की भंगिमाओं के चित्र मिलते। पर शृंगार-काव्य में निरपेक्ष भंगिमाओं का कोई महत्व नहीं है। इसलिए स्वाभाविक भंगिमाओं को भी द्रष्टा की प्रतिक्रियाओं से बाँध दिया गया है। दूसरे शब्दों में इन भंगिमाओं को नायक की दृष्टि से बद्ध किया गया है। पहले हम इसी का विवेचन करना चाहेंगे। एक उदाहरण देखिए—

ज्यौं उचकि झँपति बदनु, झुकति बिहँसि सतराइ।
त्यौं गुलाल मुठी-झुठी झझकावत प्यौ जाइ॥

यह फाग का अवसर है। नायक नायिका पर गुलाल फेंकने के लिए प्रस्तुत है। आँखों में गुलाल पड़ जाने के भय से वह घूँघट में मुँह ढाँपती है कुछ झुक जाती है फिर हँस देती है आखिर में झल्ला भी जाती है। नायक को उसकी चेष्टाएँ इतनी सुखद प्रतीत होती हैं कि वह फिर-फिर उन्हें देखने की अभिलाषा से झूठे ही मुट्ठी ताने रहता है। यहाँ चेष्टा का सुख कितना काम्य हो उठा है। इस खेल का एक दूसरा दृश्य देखिए—

नाँक चढ़ै सीबी करै जितै छबीली छैल।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कँकरीली गैल॥

इसके अवतरण का उल्लेख करते हुए रत्नाकरजी ने लिखा है—नायक नायिका दोनों कहीं जा रहे हैं। मार्ग का एक भाग तो लोगों के चलते चलते

चिकना हो गया है और दूसरा भाग कँकरीला है। नायक प्रेम के मारे नायिका को तो अच्छी पगडंडी पर चलाए जाता है और स्वयं उसके साथ साथ चलने के कारण कँकरीले मार्ग पर चलता है जिससे उसके पाँव में कँकड़ियाँ चुभती हैं। उसकी चेष्टा से यह बात जान करके नायिका प्रेमाधिक्य के कारण उसकी पीड़ा से पीड़ित होकर सीबी करती और नायक को उस मार्ग से चलने से बरजती है। नायक उसका कहना मानकर कुछ दूर तो इस प्रकार सिमट कर चलता है कि उसको कँकड़ियाँ न गड़ें पर नायिका का वह सीकर करना सीबी करना उसे ऐसा भा गया कि वह फिर जानबूझ कर उसके सिसकने तथा उसकी वह मोहिनी चेष्टा देखने के निमित्त ऐसा करता है और वह फिर उसी प्रकार सीकर करती सीबी करे।

यहाँ भी सीबी का व्यापार निर्दिष्ट है पर नायक को उससे सुखानुभूति प्राप्त होती है। कुछ उदाहरण और लीजिए—

(१) बिहँसति सकुचति सी हिये कुच-आँचर बिच बाँह।
　　भीजे पट तट को चली न्हाय सरोवर माँह॥

(२) चमत निकसि कुचकोर-रुचि कढ़त गौर भुज मूल।
　　मनु लुटि गौ लोटनु चढ़त चोंटत ऊँचे फूल॥

(३) चाहे दोऊँ मिलि चलैं मिलि हूँ कोटि बतारि।
　　सीबी है कीबें धुबी, पेसीं रदि नारि॥

पहले उदाहरण पर एक टिप्पणी देखिए—

'स्नान नारी का सर्वाधिक आकर्षक अंग है। स्नानोपरान्त भीना वस्त्र उसके शरीर में चिपक जाता है। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार वह बाहों से स्तनों को ढँक लेती है। कामजन्य डर के अभाव में लज्जा की भावना उद्दीप्त नहीं होती। एकान्त स्थान में स्नान करती हुई स्त्री के लिए गोपन क्रिया बहुत आवश्यक नहीं है। यह काम जन्य संकोच दूसरे व्यक्ति के सामने ही उत्पन्न होता है विशेष रूप से पुरुष के सामने। स्मरण रखने की बात है कि बिहारी की नायिका सरोवर में निकल रही है। इसके तट पर बिहारी जैसे रसिकों का जमघट सदा रहता होगा। अतः ग्रामीण नायिका के लिए आवश्यक था कि वह अपनी बाहों से स्तनों को ढँक लेती। विद्यापति की सद्यःस्नाता नायिका के सामने कोई पुरुष या नारी नहीं है। अतः कवि को उसके नग्न सौन्दर्य के वर्णन में कोई सामाजिकता जन्य बाधा नहीं प्रतीत हुई। 'यह

मुग्ध लज्जा अथवा शालीनता का उदाहरण है। इसे 'हाव' से सर्वथा भिन्न समझना चाहिए'। इसीलिए इस तरह की भंगिमाओं को मैंने स्वाभाविक कहा है।

दूसरे उदाहरण में नायक ने नायिका को फूल चुनते समय देखा है। इस क्रिया में 'हाथ को ऊँचे करने तथा ग्रीवा को पीछे की ओर झुकाने में उसके कुच आगे को निकल आए, एवं अंचल के सरकने से भुजमूल तथा उदर कुछ उघर गए। इस अवस्था में उसकी छबि सी देखकर नायक का मन लुट गया।

तीसरे उदाहरण में छींके पर दहेंड़ी रखने का नायिका का व्यापार नायक को अत्यंत प्रिय लग रहा है। इसलिए वह कहता है कि तू दहेंड़ी छींके पर न रखो और न उतारो। छींके को अच्छी तरह से छू रखो। इस स्थिति में रहने से नायक को तनाव के कारण उसके वक्ष का इन्द्रियोत्तेजक उभार देखने का शुभ अवसर मिलता रहेगा। यह भंगिमा भी छींके के छूने से अपने आप बन गई है, पर नायक को उसमें चक्षु रंजन का एक मौका मिल जाता है।

उपर्युक्त भंगिमाओं में स्नान के अवसर पर जो भंगिमा दिखाई गई है वह सर्वाधिक सुंदर और संवेद्य है। वह अपेक्षाकृत अधिक रूपात्मक है, इसीलिए श्रेष्ठ भी है। उसमें कवि ने जीवन के यथार्थ को एक ऐसे प्रसंग में चित्रित किया है कि वह बहुत ही स्वाभाविक तथा संवेदना पूर्ण बन गया है। शेष चित्रों में स्नान करके निकलती हुई नायिका अपनी शालीनता (मॉडेस्टी) के कारण पाठकों को प्रिय लगती है। फूल तोड़ने का चित्र इन्द्रियोत्तेजक (सेंसुअस) हो गया तो दहेंड़ी रखने का चित्र ग्राम्य।

पहले ही कहा जा चुका है कि संयोगेच्छा प्रकाशक सचेष्ट व्यापार 'हाव' कहे जाते हैं। प्रमोद्दीपन के कार्य में इसकी महत्ता का विशेष आकलन किया

हाव

जाता है। कुछ आचार्यों ने हाव के कई भेद बतलाए हैं पर वे भ्रामक हैं। जैसा आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत है हाव को विभाव के अंतर्गत ही मानना अधिक संगत है। हाव एक प्रकार का उद्दीपन है जो प्रेमी के हृदयस्थ रतिभाव को उद्दीप्त करता है। संयोग शृंगार के प्रतिष्ठित अन्य ग्रंथों में इसके लिए

१—'रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना' ना॰ प्र॰ सभा काशी पृ॰ १८

कोई स्थान नहीं है। मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर यह इसे हिस्टीरिया की कोटि में रखा जायगा। प्रेम का यह क्रीड़ा-परक रूप सामंतीय जीवन की विलासिता के अनुरूप ही था। इसलिए बिहारी ने इस तरह के वर्णनों में खूब रुचि ली है।

देखिए—

(१) त्रिबली, नाभि दिखाइ कर सिर ढकि सकुचि समाहि।
गली अली की ओट कै चली भली बिधि चाहि॥

(२) देख्यौ अनदेख्यौ कियै अँग अँग सबै दिखाय।
पैठति सी तन मैं सकुचि बैठी चितै लजाय॥

(३) उझकति सी चितवनि चितै भई ओट अकुलाइ।
फिरि उझकनि की मृगनयनि दृगनि लगनिया लाइ॥

(४) बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै भौंहनि हँसै दैन कहै नटि जाइ॥

(५) भौंहनु त्रासति मुँह नटति आँखिनु सौं लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति कर इँची आगैं आवति जाति॥

उपर्युक्त सभी उद्धरणों के व्यापार संयोगपरक सूचक हैं। चित्रों की सफाई पर भी कुछ कहीं कुछ नहीं कहना है। पहले उदाहरण के व्यापार की व्याख्या—त्रिबली और नाभि का प्रदर्शन—काम व्यापार नहीं नहीं तो क्या। (आजकल तो त्रिबली और नाभि का प्रदर्शन आधुनिक होने की निशानी मानी जाती है। यदि यह मानसिक कुरुचि का द्योतक है तो बिहारी की नायिका को दोषी ठहराना आधुनिकता का सिद्धान्त माना जायगा क्यों?) जो लोग भारतीय परंपरा का सामान्य ज्ञान रखते हैं वे उपर्युक्त चित्रण की कुरुचिपूर्णता में संदेह प्रकट करेंगे। उदाहरण सं० २ की नायिका के व्यापार अधिक अस्थिर बौद्धिक तथा मानसिक हैं। तीसरे दोहे की सांकेतिकता दोनों और सूक्ष्म है। चौथे की प्रेमक्रीड़ा में मानवीय तत्त्व की प्रचुरता के साथ प्रेम की गहराई की अभिव्यक्ति होती है। पाँचवें में क्रीड़ात्मकता अधिक है पर परस्पर *विरोधी क्रियाओं द्वारा इस चित्र को भी रोचक दृढ़ बना दिया गया है।* पहले दोहे में जो चित्र खींचा गया है उसकी अपेक्षा अन्य चित्र अधिक प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं क्योंकि उनके बोध के लिये अपेक्षाकृत अधिक बौद्धिक मानसिक संयम की आवश्यकता है। जिस चित्र के लिए उसके बोध के लिए जितना

व्यापक मानसिक संघर्ष की जरूरत होगी वह उतना ही प्रभविष्णु और संवेदनात्मक होगा।

प्रेम क्रीड़ा के अन्य रूपों में दाम्पत्य क्रीड़ा और मिहीचनी का खेल पारस्परिक आलिंगन चुम्बन आँख आँख का खिलवाड़ घूँघट की ओट की चोट आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। इनमें दांपत्तिक क्रीड़ा के चित्र बहुत ही मनोरम और आकर्षक बन पड़े हैं—

(१) हँसि ओठनु बिच कर उचै, किये निचौंहैं नैन।
खरैं अरैं प्रिय कै प्रिया लगी बिरी मुख दैन॥

(२) नाक मोरि नाहीं ककै नारि निहोरैं लेय।
छुवत ओंठ पिय आँगुरिन बिरी बदन तिय देय॥

पहले दोहे में विश्रब्ध नवोढ़ा नायिका की चेष्टा वर्णित है। अब उसे नायक का इतना अधिक विश्वास हो गया है कि वह उसे पान खिलाने के लिए पास आने लगी है। ओठों के बीच हँस कर हाथ ऊँचा और आँख नीची करके प्रिय के मुख में पान देती है। मध्यवर्गीय कुलीनता से अपरिचित व्यक्ति इसके पूर्ण सौष्ठव को आयत्त नहीं कर सकता। संकोच लज्जा और विश्वास का संगम चित्र को आत्यंतिक ऐंद्रिय मनोरमता प्रदान करता है।

दूसरे चित्र में नायक नायिका को पान खिलाना चाहता है। वह नाक सिकोड़ती हुई कहती है नहीं नहीं मैं नहीं खाऊँगी। नायक बेचारा बार बार आग्रह करता है। नायिका उसका पान मुँह में लेती हुई ऐसा भाव प्रकट करती है मानो उस पर बड़ी कृपा कर रही है। इसी समय नायक उसके कोमल अधरोष्ठों को छू देता है।

इन दोनों चित्रों के सारे व्यापार स्वाभाविक हैं जीवन से गृहीत हैं इसलिए इनका सौंदर्य भी मर्मस्पर्शी और हृदयग्राही बन पड़ा है।

प्रेम क्रीड़ा के लिए चोर मिहीचनी खेल की भी व्यवस्था की गई है। इस खेल का अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं है। यह एक बहाना मात्र है जिसमें आलिंगन की खुली छूट मिल जाती है—

दोऊ चोर मिहीचनी खेल न खेलि अघात।
दुरत हिये लपटाय कै, छुवत हिये लपटाय॥

अटा पर चढ़ी हुई नायिका की क्रीड़ा का एक कोमल रूप देखिए—

छिनकु चलति ठठुकति छिनकु भुज प्रीतम गल डारि।
चढ़ी अटा देखति घटा बिज्जु छटा सी नारि॥

बिजली की ज्योति की तरह लावण्यवती नायिका घिरे हुए बादलों की शोभा निहार रही है। प्रियतम के गले में बाँह डाल कर क्षण भर कभी चलती है और क्षण भर कभी ठिठक जाती है। 'भुज प्रीतम गल डारि' की व्यंजना प्रेम के प्रसंग में निराली हुई और मनोवैज्ञानिक बन पड़ी है।

ग्रीष्म में अमराई का वर्णन बड़ा प्यारा होता है उसका भी एक उदाहरण देखिए—

झलिक झँपे दै मिसकु अँगराइ सौ फिरि आइ।
गयी अचानक आँगुरी छाती छैल छुवाइ॥

अब चुम्बन का एक दृश्य देखिए—

अँगुरिनु उचि भरु भीति दै उलमि चितै चख लोल।
रुचि सौं दुहुँ दुहुन के चूमे चारु कपोल॥

ऐसे सुयोग नगर निवासी नायक-नायिका को ही सुलभ हो सकते हैं।

बिहारी सतसई में प्रेम-क्रीड़ा का बहुत बड़ा भार आँखों के मत्थे पड़ा है। प्रेम व्यापार में है भी आँखों का काम ही महत्वपूर्ण अंग। ये आँखें भी साधारण आँखें नहीं हैं। वे 'रस सिंगार मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन' हैं। दूसरे शब्दों में हाव भाव कटाक्ष आदि में पूर्ण दक्ष हैं। प्रेम को मादक बनाने के लिए नेत्रों का बड़ा होना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना उनका अपांग वीक्षण। इसीलिए एक दोहे में सखी नायिका की प्रशंसा करती हुई कहती है—

अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू जिहिं बस होत सुजान॥

इस तरह की आँखों के कुछ व्यापार द्रष्टव्य हैं—

(१) चली भौंहनु भेदि कै छिदहू दै उत जाय।
फिर दौरि छुरी दीठि सौं मचकी डीठि बचाय॥

(२) कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैनन ही सौं बात॥

(३) जुरे दुहुनि के दृग झमकि रुके न झीनैं चीर।
हलुकी फौज हरौल ज्यौं परत गोल पर भीर॥

भीड़ भम्भड़ में लोगों की आँखें बचाकर अपने प्रिय से आँखों आँख बात कर लेना मन की रीझ खीझ को संकेत पूर्वक व्यक्त कर देना पारवर्ती घूँघट के उस पार जाकर प्रिय की आँखों में मिल जाना—आँख के इन व्यापारों से सभी परिचित हैं ।

सुरति सूचक मुद्राओं के चित्र भी सतसई में ढेर के ढेर मिल जायेंगे । क्रीड़ाओं की अंतिम परिणति भी तो यही है । और यही तो है सकाम भोगी

सुरति सूचक मुद्राएँ

सामंतों के जीवन का चरम लक्ष्य । सार्वभौम नायक की एक उक्ति देखिए—और दूसरे की उक्ति यह हो भी नहीं सकती—

चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि ।
ए जिहिं रति सो रति मुकति और मुकति अति हानि ॥

अर्थात् जिस रति में चमक तमक लपट झपट आदि हो वही रति मुक्ति के समान परमानंददायिनी है । दूसरी मुक्ति तो अनिष्टकारिणी है ।

कुछ मुद्राएँ देखिए—

(१) सकुचि सरकि पिय निकट तें मुलकि कछुक तन तोरि ।
कर आँचर की ओट करि जमुहानी मुख मोरि ॥

(२) समरस समर सकोच बस बिबस न ठिक ठहराइ ।
फिरि फिरि उझकति, फिरि दुरति, दुरि दुरि उझकति आइ ॥

इन पर टिप्पणियाँ व्यर्थ हैं ।

संयोगकालीन अवस्था में आंतरिक आनंद के फलस्वरूप जो स्वेद, कंप रोमांच वैवर्ण्य आदि दिखाई पड़ते हैं उनकी गणना सात्त्विक अनुभावों में की जाती है । 'आत्मा में अंतर्भूत रस को प्रकाशित

सात्त्विक अनुभाव

करनेवाला अंतःकरण का धर्म विशेष सत्त्व' कहलाता है । इसी सत्त्वगुण से उत्पन्न शरीर के स्वाभाविक अंग विकार को सात्त्विक अनुभाव कहते हैं । यह अन्तःकरण का धर्म विशेष सभी रसों में दिखाई पड़ता है पर प्रत्येक के अपने अपने कारण होते हैं ।"

इन सात्त्विक अनुभावों का प्रादुर्भाव प्राय प्रिय के दर्शन श्रवण और स्पर्श से होता है । इन सभी अवस्थाओं में स्वानुभव कुछ ऐसे विकार उत्पन्न हो जाते हैं कि उनका प्रकाशन स्वेद कंप आदि के द्वारा देखा जाता है ।

माध्यम द्वारा स्पर्श, श्रवण आदि से जिन प्रभावों को प्राप्त किया जाता है वे हमारे शारीरिक संगठन को अनेक ढंग से प्रभावित करते हैं। परिणामतः उनकी प्रतिक्रियाएँ अनेक रूपों में देखी जाती हैं। प्रेम के प्रसंग में स्पर्श का अधिक प्रभाव देखा जाता है। स्पर्शानुभूतिन्द्रिय का गुण है। त्वचा स्नायुतंतुओं धमनियों और मांस आदि की रक्षा ही नहीं करती बल्कि बाह्य संसार से हमारा संपर्क भी स्थापित करती है। मनोवैज्ञानिकों ने इसे सर्वाधिक प्राचीन और मूलभूत ज्ञानेंद्रिय कहा है। यह बाह्यानुभूतियों का संदेश तुरन्त ही मस्तिष्क तक पहुँचाती है। तीव्र आवेगों की स्थिति स्पर्श ज्ञान पर इतनी अधिक निर्भर है कि प्रेम संबंधी संवेगों के संदर्भ में इसे प्रमुख स्थान दिया जाता है। स्पर्श का विद्युत प्रभाव सारे रोमकूपों में विचित्र सिहरन भर देता है।"[1]

बेनी गूँथने के प्रसंग में स्पर्श जन्य प्रभाव का एक दृश्य देखिए—

रही गुही बेनी लखि गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचान जे नीठि सुखाए बार॥

नायक नायिका की चोटी गूँथता है। स्पर्श से दोनों को स्वेद हो आया है और नायिका की चोटी के बाल भीग गए हैं। अपना सात्विक छिपाने के निमित्त नायिका कहती है—रहने दो, गूँथ चुके बेनी, देख लिया तुम्हारा ढंग। इतनी कठिनाई से मैंने बाल सुखा रखे थे, वे फिर गीले हो गए। इसमें प्रेम की जो व्यंजना की गई है वह श्लाघ्य है। पर सात्विक की किंचित् अस्वाभाविकता के कारण यह उतना प्रभावोत्पादक नहीं बन पड़ा है।

एक साथ ही कंप, स्वेद, रोमांच और अश्रु सात्विक अनुभवों को एक अत्यंत स्वाभाविक संदर्भ में देखिए—

खेलत चोर मिहीचनि आजु, गई हुती पाछिले धाम की नाई।
आली कहा कहौं एक भई 'मतिराम' नई यह बात तहाई॥
एक ही भौन दुरे इक संग ही अंग सौं अंग छुवायो कन्हाई।
कंप छुट्यो, घन स्वेद बढ़यो, तन रोम उठ्यो, अँखियाँ भरि आईं॥

—मतिराम

मतिराम के सवैये में चारों से सात्विकों को एक स्थान पर एकत्र कर दिया गया है इसलिए इसका काव्य-सौंदर्य नष्ट नहीं है। इसकी श्रेष्ठता नायिका की मनोदशा को व्यापक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण कराने में है जो मन-

---

१—रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना डा० बच्चन सिंह पृ० १८४

स्थितियों की तुलना में है उनके अंतर्संबंधों के स्थापन में है। पिछले ही दिनों की भांति नायिका और मिहीचनी खेलने के लिए आज भी गई थी। लेकिन आज के खेल में उसे एक अभूतपूर्व अनुभूति हुई। इस अनुभूति के कारणों को समझने में वह असमर्थ है क्योंकि पिछले दिनों तो वह बराबर चोर मिहीचनी खेला करती थी पर इस तरह का कुछ भी नहीं हुआ। आज क्या बात हो गई ? उसके साथ एक ही बार में नायक भी छिप गया और जान बूझकर अपना शरीर उसके शरीर से छुआ दिया। शरीर का स्पर्श करते ही उसे रोमांच हो आया शरीर पसीने पसीने हो गया आंखों में आंसू की बूंदें छा गई। इस तरह का स्पर्श तो बहुत होता रहा है पर आज ही क्यों ये सात्त्विक उभर आए ? ये सात्त्विक उस अवस्था विशेष के सूचक हैं जिसमें प्रेम विकार अनजाने ही उत्पन्न होने लगते हैं। नायिका है भी तो अज्ञात यौवना। किन्तु बिहारी के दोहे और मतिराम की सवैया का तुलनात्मक विवेचन नहीं किया जा सकता। मतिराम ने उक्त सवैया अज्ञात यौवना के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है वह अपने आप में नायिका के अज्ञान और भोलेपन को बहुत ही स्वाभाविक ढंग से व्यक्त करता है। यह भोलापन पाठकों को प्रसन्न कर देता है, उनके अंतर्मन को गुदगुदा देता है, उनकी ऐन्द्रिय चेतना को तीव्र बना देता है। बिहारी का दोहा दूसरे परिप्रेक्ष्य की सृष्टि करता है, उसमें व्यापकता नहीं है गहनता है, जो प्रभावित्व की व्यंजना में सक्षम है। एक दूसरे दोहे में बिहारी ने स्पर्शजन्य सात्त्विक की जो सृष्टि की है वह अपेक्षाकृत गहरी संवेदना उत्पन्न कर सकी है—

स्वेद सलिल रोमांच कुस गहि दुलही अरु नाथ।
दियौ हियौ संग हाथ के हथलेवैं ही हाथ॥

पाणिग्रहण संस्कार के अवसर पर दुलहिन दुल्हे ने स्वेदरूपी जल और रोमांच रूपी कुश ग्रहण करके हाथ के साथ ही अपना अपना हृदय भी एक दूसरे को सौंप दिया। पाणिग्रहण की लौकिक रीति (जल और कुश द्वारा संकल्प होने की क्रिया) के पूर्व ही दोनों मानसिक संकल्प से एक दूसरे के हो गए। मानसिक चेतना और उसकी शारीरिक प्रतिक्रिया का कितना सूक्ष्म चित्रण है। इसमें व्याप्ति तो नहीं है पर संश्लिष्टता की गहराई अवश्य है।

अब दर्शनजन्य सात्त्विक का उदय देखिए—

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कंपि किसोरी दरसि कै, खरैं लजाने लाल॥

उँगली पर गोवर्धन धारण किए हुए श्रीकृष्ण ने ज्यों ही किशोरी राधिका को देखा त्यों ही उन्हें कंप सात्विक हो आया। इस कमबख्त सात्विक ने बोझ का काम किया—बड़े ही असमय में दिखाई पड़ा। हाथ के हिलने ही पहाड़ भी हिला और सारा ब्रज विकल हो उठा। श्रीकृष्ण लज्जा से लाल हो गए।

श्रवणजन्य सात्विक का उदाहरण शेष रह गया उसे भी देखिए—

आयौ मीतु बिदेस तैं काहू कह्यौ पुकारि।
सुनि हुलसीं बिहसीं हँसीं दोऊ दुहुनि निहारि॥

इतना सुनना था कि मित्र विदेश से आ गया है दोनों प्रमिकाएँ प्रफुल्लित हुईं विहँस पड़ीं फिर एक दूसरे को देखकर हँसने लगीं। प्रिय के प्रति जो मानसिक लगाव है उससे उनका खिल जाना सात्विक ही है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से इसमें कुछ खामी दिखाई पड़ सकती है पर प्रफुल्लता भी तो अन्तःकरण के धर्म से ही संबद्ध है।

बिहारी ने कुछ ऐसे संदर्भों की भी सृष्टि की है जिनमें सात्विकों का प्रादुर्भाव न तो दर्शन से होता है न श्रवण से और न स्पर्श से। केवल सामीप्य बोध की भावना ही नायिका में सात्विक अनुभाव उत्पन्न करने में समर्थ है। यह विशिष्ट संदर्भ सात्विकों को जो परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है वह काव्य को सहज ही सौंदर्यपूर्ण बना देता है—

मुख उघारि पिउ लखि रहत रह्यौ न गौ मिस-सैन।
फरके ओठ, उठे पुलक, गए उघरि जुरि नैन॥

इस दोहे में उस नायिका का चित्र अंकित किया गया है जो सोने का बहाना करके मुँह ढँककर, आँखें बंद करके सोई हुई है। नायक ने वास्तविकता जानने के लिए उसका मुँह उघार कर देखा। अब नायिका से रहा नहीं गया उसके होंठ फड़क उठे रोएँ सरसरा गए, आँखें खुल गईं और प्रियतम की आँखों से जा मिलीं।

नायिका ने नायक को देखा नहीं है। संभवतः मुँह उघार कर देखते समय नायक के हाथों का स्पर्श भी नहीं हो पाया है। पर मन ही मन वह उसके आत्यंतिक सामीप्य का अनुभव कर रही है। केवल इस मनोभाव ने उसके संवेगों को इस तरह आंदोलित कर दिया कि उसके शरीर पर उसके प्रतीक रूप में अनुभाव अंकित हो उठे।

इस प्रसंग में देव का एक सवैया उद्धृत किए बिना यह प्रकरण कुछ अधूरा सा लगता है—

> गौने के चार चली दुलही, गुरु लोगन भूषन भेष बनाये।
> सील सयान सखीन सिखायो सबै सुख सासुरे हू के सुनाये।
> बोलियो बोल सदा हँसि कोमल, जे मन भावन के मन भाये।
> यों सुनि ओछे उरोजन पै अनुराग के अंकुर से उठि आये॥

गौना जाने वाली दुलहिन को सखियों ने—सयानी सखियों ने—बहुत कुछ सीख दी। कहा कि सखी तुम हँस करके कोमल वाणी से बोलना जो प्रियतम के मन को भाने वाला हो। इतना सुनना था कि मन का अनुराग रोमांच के रूप में फूट पड़ा। अभी वास्तविक मिलन नहीं हुआ है। अभी स्थिति सर्वथा मानसिक धरातल पर है। पर मन के साथ शरीर का ऐसा सहज संबंध है कि दोनों में एक साथ घटना उत्पन्न हो जाती है। वास्तव में यह कल्पनाजन्य अनुभाव का एक रूप है। प्रियतम का काल्पनिक सामीप्य रोमांच उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ है। कहना न होगा कि देव का यह अनुभाव चित्र काफी गूढ़ और संवेगात्मक है। पर बिहारी के उपर्युक्त दोहे में कई अनुभाव जो एक दूसरे से पूर्णत: संबद्ध हैं वे अपेक्षाकृत अधिक नाटकीय और संश्लिष्ट हैं।

कल्पनाजन्य अनुभाव की तरह स्मृतिजन्य अनुभाव भी होता है। स्मृतियाँ कई तरह से जागृत होती हैं। काव्य में प्राय: देखा जाता है कि प्रिय से संबद्ध कोई वस्तु पाकर प्रेमी पुलकित हो उठता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वयं प्रिय मिल गया हो। 'स्वयं वस्तु कोई प्रेमपरक चेतना उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती। उस वस्तु पर प्रिया (या प्रेमी) अपने प्रिय की भावना का प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) कर लेती है।'[1]

एक अंतरंग सखी ने नायिका को बहिरंग सखियों के बीच ठाकुर जी का प्रसाद कह कर एक माला दी। नायक की माला पहनते ही नायिका को रोमांच हो आया। उसे देखकर परिहास करती हुई बहिरंग सखी कहती है—

> मैं यह तोही मैं लखी भगति अपूरब बाल।
> लहि प्रसाद माला जु भौ, तन कदंब की माल॥

१—रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना ना० प्र० सभा, काशी [illegible]

इस स्मृति जन्य अनुभाव का कहा यही बिहारी ने और भी सूक्ष्म स्तर पर रखा और परखा है—

ऊँचै चितै सराहियत गिरह कबूतर लेतु ।
झलकित दृग पुलकित बदन तनु पुलकित किहिं हेतु ॥

यद्यपि इस दोहे के 'अथवा' में रत्नाकर जी ने बतलाया है कि नायिका अटारी पर चढ़े हुए कबूतर उड़ाने वाले नायक को देखकर पुलकित होती है। पर नायक को देखने का अनुमान नहीं भी किया जा सकता है। नायिका केवल अपने प्रिय के कबूतर को देखकर ही पुलकायमान हो सकती है। मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता की दृष्टि से यह कल्पना अधिक रमणीय प्रतीत होती है।

हास परिहास, वन विहार और मद्यपान

प्रेम या शृंगार के प्रसंग में हास-परिहास, वन-विहार और मद्यपान का वर्णन प्रायः होता आया है। हास परिहास में कभी तो हृदय की उन्मुक्तता प्रेमी युगल को समीप ले आती है और कभी हृदय की अन्य प्रकार से अव्यक्त भावनाएँ अनजाने ढंग से व्यक्त हो उठती हैं। बिहारी में इस तरह के हास परिहास की उपेक्षा भी नहीं करना चाहिए। वन विहार के उन्मुक्त वातावरण में प्रेम की जो भावना मिलती है, उसकी कमी भी बिहारी में मिलेगी। इन दोनों की अपेक्षा मद्यपान के वर्णन में अधिक है। फिर भी हास परिहास और वन विहार का वर्णन मिल ही जायगा—

लाज गहौ बेकाज कत घेरि रहे घर जाँहि ।
गोरस चाहत फिरत हौ, गोरस चाहत नाँहि ॥

परिहास का यह एक अच्छा उदाहरण है। नायिका कहती है—कुछ तो शर्म करो, बेकार में क्यों घेर रहे हो, घर जाओ। मैं तुम्हें अच्छी तरह जानती हूँ। तुम इंद्रिय रस चाहते फिरते हो, गोरस नहीं। इस परिहास में नायिका ने अपना गूढ़ मन्तव्य भी प्रकट कर दिया।

अब परिहास का एक दूसरा उदाहरण देखिए—

छै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाइ ।
बलि बावन कौ ब्यौंतु सुनि को बलि, तुम्है पत्याइ ॥

नायक नायिका के रूप गुण पर रीझ गया है। वह नायिका की सखी से प्रार्थना करता है कि उसे दिखा दे। सखी नायक का परिहास करती हुई

कहती है कि तुम्हारी रीति बड़ी बेढब है। तुमने उँगली छुआ नहीं कि पहुँचा पकड़े। बलि बामन का वृत्तांत सुन करके भला तुम्हारा विश्वास कौन करेगा ?

ललित ललित श्रम स्वेद कन कलित अरुन मुख तैन।
बन बिहार थाकी तरुनि खरे थकाये नैन॥

यह वन विहार का अति सामान्य उदाहरण है। हाँ मद्यपान में बिहारी का मन अपेक्षाकृत अधिक रमा है—

(१) हँसि हँसि हेरति नवल तिय मद के मद उमदाति।
बलकि बलकि बोलति बचन, ललकि ललकि लपटाति॥

(२) निपट लजीली नवल तिय बहकि बारुनी सेइ।
त्यौं त्यौं अति मीठी लगति, ज्यौं ज्यौं ढीठ्यौ देइ॥

(३) खलित बचन अधखुलित दृग ललित स्वेद कन जोति।
अरुन बदन छबि मद छकी खरी छबीली होति॥

मद का मुख्य प्रयोजन है रति क्रीड़ा को मादकतापूर्ण बनाना। मद के कारण बहक बहक कर लपटना लजीली होने पर भी लज्जा को छोड़ रति क्रीड़ा में ढीठ होना शोभा में मदजन्य निखार का आना आदि आदि ऐसी स्थितियाँ हैं जो तत्कालीन रसिकों की आकांक्षाओं के अनुकूल पड़ती थीं। इसलिए सतसई में इनका सन्निवेश भी आवश्यक हो गया।

सामंतीय वातावरण का प्रभाव बिहारी के वियोग वर्णन पर इस तरह पड़ा है कि मान और खंडितादि के चित्रों की सतसई में बहुलता हो गई है।

वियोग

वियोग के चार प्रकारों—पूर्वानुराग मान प्रवास और करुण में खंडितादि के वर्णन मान के ही अन्तर्गत आएँगे।[1] पूर्वानुराग को कुछ आचार्यों ने अभिलाष मात्र मानकर गंभीर वियोग के अनुपयुक्त समझा है। पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अभिलाष मात्र ही नहीं ठहर सकता। थोड़ी देर के लिए इसे मान भी लिया जा सकता है किंतु कुछ समय के अनंतर इसमें वियोगात्मक तीव्रता का आविर्भाव स्वाभाविक हो जाता है। पहले हम मान का ही प्रसंग लेंगे।

१—विस्तार के लिए देखिए, रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ० १६६-७०

आचार्यों के मतानुसार मान के दो भेद हैं—प्रणयमान और ईर्ष्यामान। प्रणयमान निर्हेतुक माना गया है यह स्मित आदि से शमित हो जाता है।

मान

यह मुख्यतः क्रीड़ात्मक है इसे मान नहीं मान का नाटक समझना चाहिए। अतः वियोग की किसी भी वास्तविक स्थिति का आविर्भाव इसमें संभव ही नहीं है। ईर्ष्यामान में मूलतः ईर्ष्या रहती है पर इसमें क्षोभ अमर्ष अभिमान क्रोध घृणा उदासीनता अवसाद आदि अनेक प्रकार की मानसिक अवस्थाओं का समावेश हो सकता है।

प्रणयमान का एक मनोरम खेल देखिए—

सतर भौंह, रूखे बचन, करति कठिनु मन नीठि।
कहा करौं, ह्वै जाति हरि हेरि हँसौंहीं डीठि॥

सखी ने किसी प्रकार नायिका को मान करना सिखाया है पर अपनी असमर्थता का इजहार करती हुई नायिका कहती है कि हे सखी मैं किसी तरह भौंहों को टेढ़ी बातों को रूखा और मन को कठोर बना लेती हूँ किंतु हाय मैं क्या करूँ उनको देखकर आँखों में हँसी आ जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि इस तरह के मान को वियोग के अन्तर्गत रखना परंपरा का अनुरोध ही समझना चाहिए। यह एक तरह की प्रेमपरक क्रीड़ा है जो प्रेम को उद्दीप्त करती है। अतः इसे उद्दीपन के भीतर रखना अधिक संगत लगता है।

ईर्ष्यामान के वर्णन में बिहारी की चित्तवृत्ति अधिक रमी है। परंतु इसके भीतर भिन्न-भिन्न प्रकार की मानसिक अवस्थाओं को न दिखलाकर प्रायः नायिका के आक्रोश तक ही कवि सीमित रहा है। खंडिता के प्रसंग में तो बिहारी की दृष्टि बाह्य रति-चिह्नों पर विशेष रूप से टिकी है। वे पलकों में पीक अधरों में अंजन भाल में महावर, अंगों में किंकण छाती में नखक्षत अधरों पर दंतक्षत बाहों पर चोटी का चिह्न दृगों में ललाई और आलस्य उँगलियों में महावर आदि के वर्णन में इतने रमते हुए दिखाई देते हैं कि खंडिता के क्षोभ को व्यंजित उतना नहीं कर सकते जितना चमत्कारपूर्ण। खंडिता नायिका के प्रसंग क्षोभ के इन बाह्य चिह्नों का स्मरण इस काल के सभी कवियों ने प्रेमपूर्वक किया है किंतु इसका जितना विस्तार बिहारी ने

किया है उतना और लोगों ने नहीं। मतिराम देव पद्माकर आदि कवि बीच बीच में खंडिता की मानसिक स्थिति भी व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं।[१] निम्नलिखित दोहा इस संबंध में प्रतिनिधि उदाहरण माना जा सकता है—

पलनु पीक, अंजनु अधर, धरे महावर भाल।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हौ लाल॥

ये चिह्न ही पति के अपराध के सूचक हैं और पति का अपराध ही ईर्ष्या-मान का कारण है। बिहारी ने स्वयं कहा है—

पति रितु औगुन गुन बढ़त मान, माह को सीतु।
जातु कठिन ह्वै अति मृदौ रवनी मन, नवनीतु॥

अर्थात् पति और ऋतु के अवगुण (अपराध) तथा गुण (स्वभाव) से मान और माघ महीने की शीत वृद्धि होती है। उसके फलस्वरूप रमणी का मन तथा नवनीत जो अपेक्षया कोमल हैं निष्ठुर तथा कठोर हो जाते हैं।

पूर्वानुराग के वर्णन में भी बिहारी में न आवेगात्मक तीव्रता दिखाई पड़ती है और न संवेदनात्मक गहराई। यह पूर्वानुराग भाव दो रूपों में चित्रित

पूर्वानुराग

हुआ है—रतिमूलात्मक और चित्त विकलता। पहले रूप का जहाँ तक संबंध है नायिका की किसी न किसी दशा का चित्रण उपस्थित किया गया है—

लाल, तुम्हारे रूप की कहौ रीति यह कौन।
जासौं लागत पलकु दृग लागत पलक पलौ न॥

इसमें अभिलाषा-दशा का जो कथन किया गया है वह किसी प्रकार काव्योचित नहीं बन पड़ा है।

चित्त की विकलता के फलस्वरूप उसकी जिस अस्थिरता का उल्लेख किया गया है वह अपेक्षाकृत ऐंद्रिय और सजीव अवश्य है—

इत तैं उत उत तैं इतै, छिनु न कहूँ ठहराति।
जक न परति, चकरी भई, फिरि आवति फिरि जाति॥

१—रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, डा० [illegible], पृ० १२३

नायिका से वियुक्त होकर नायक के अन्य देश में चले जाने को प्रवास कहा गया है। इसमें अभिलाषा संताप पांडुता दौर्बल्य अरुचि अधीरता अस्थिरता तन्मयता उन्माद मूर्छा आदि काम-दशाएँ देखी जाती हैं। गंभीर वियोग इस स्थिति में अधिक स्वाभाविक है। किसी के द्वारा संदेश भेजना और चित्र-लेखन भी प्रवास-जन्य वियोग की कड़ियाँ हैं। बिहारी में इन समस्त कड़ियों को पाया जा सकता है।

प्रवास

उपर्युक्त काम-दशाओं में प्रथम चार का संबंध शरीर से है तो शेष छः का मन से। प्रथम चार दशाओं का मूल प्रेरक भी मन ही है, उसकी प्रतिक्रिया शरीर पर इन रूपों में होती है। नीचे कुछ दशाओं का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—

संताप

(१) आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस ककै सनेह बस सखी सबै ढिग जाति॥
(२) औंधाई सीसी सुलखि बिरह बरति बिललात।
बिचही सूखि गुलाब गौ छीँटौ छुई न गात॥
(३) जिहिं निदाघ दुपहर रहै भई माघ की राति।
तिहिं उसीर की रावटी खरी आवटी जाति॥

जायसी ग्रंथावली की भूमिका में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जायसी के वियोग पक्ष का विवेचन करते हुए लिखा है—'जायसी का विरह वर्णन कहीं कहीं अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी मजाक की हद तक नहीं पहुँच पाया है, उसमें गांभीर्य बना हुआ है। इनकी उक्तियाँ बात की करामात नहीं जान पड़ती हृदय की तीव्र वेदना के शब्द संकेत प्रतीत होती हैं। उनके अंतर्गत जिन पदार्थों का उल्लेख होता है वे हृदयस्थ ताप की अनुभूति का आभास देने वाले होते हैं, बाहर बाहर से ताप की मात्रा नापने वाले मानदंड नहीं। जाड़े के दिनों में भी पड़ोसियों तक पहुँच उन्हें बेचैन करने वाले बोतल का गुलाबजल सुखा डालने वाले ताप से कम ताप जायसी का नहीं है पर उन्होंने उसके वेदनात्मक अंश पर जितनी दृष्टि रखी है उतनी उसकी बाहरी माप जोख पर नहीं जो प्रायः उपहासास्पद हुआ करती है।'[1] इस उद्धरण में

१—आचार्य रामचंद्र शुक्ल जायसी ग्रंथावली चतुर्थ संस्करण [illegible] भूमिका पृ० ११।

जितने निषेधात्मक वाक्य हैं वे सब बिहारी को दृष्टि में रखकर लिखे गए हैं—उनके संताप-वर्णन को लक्ष्य करके। तात्पर्य यह है कि बिहारी का संताप-वर्णन मात्रा मूलक है, वह नाप-जोख की पद्धति पर आधारित और ऊहात्मक है।

दौर्बल्य

(१) करी बिरह ऐसी, तऊ गैल न छाड़तु नीचु।
दीनैं हूँ चसमा चखनु चाहै लहै न मीचु॥
(२) इत आवति चलि, जाति उत चली, छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सैं रहै लगी उसासनु साथ॥
(३) मिलि न जाति परसति हैं परसी बिरह तनु छाम।
उझकि दिखैं हौं आँखि, हरि, लिखैं बिहारी नाम॥

जिस तरह संताप वर्णन में कवि की दृष्टि ताप की मात्रा पर रही है उसी तरह इस प्रसंग में भी उसकी दृष्टि शारीरिक दुर्बलता और आत्यंतिक क्षीणता पर रही है। कार्श्य का यह रूप भी मात्रा की लघुता पर आधृत है, हृदय गत संवेदना पर नहीं।

अस्थिरता का एक उदाहरण पूर्वानुराग के प्रसंग में दिया जा चुका है। तन्मयता आदि   तन्मयता उन्माद और मरण के एक एक उदाहरण देखिए—

पिय कै ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि।
आपु आपु हीं आरसी लखि रीझति रिझवारि॥
(तन्मयता)

बिरह जरी लखि जीगननु कह्यौ न उहि कै बार।
अरी आउ भजि भीतरी बरसत आज अँगार॥
(उन्माद)

कहा कहौं बाकी दसा हरि प्राननु के ईस।
बिरह ज्वाल जरिबौ लखैं मरिबौ भयो असीस॥
(मरण)

जो वस्तुएँ संयोग में सुखानुभूति जगाती रहती हैं वे ही वियोग में दुःखानुभूति जगाने का कार्य करती हैं। काव्य में इनका वर्णन कवि परंपरा से करते आए हैं। बिहारी की उक्तियाँ भी परंपरा के ही मेल में हैं—

विरह के उद्दीपन

(१) औरैं भाँति भए ब ए चौसर, चंदन चंद।
पति बिनु अति पारत बिपति मारत मारुत मंद॥

(२) हौं ही बौरी बिरह बस कै बौरो सब गाउँ।
कहा जानि ए कहत हैं, ससिहि सीतकर नाउँ॥

विरह-वर्णन के कुछ काव्योचित स्थल

समस्त परंपराओं के पालन के बावजूद भी बिहारी के विरह-वर्णन में कुछ ऐसे स्थल अवश्य हैं जो उनकी श्रेष्ठ काव्य प्रतिभा के द्योतक हैं। (विरह वर्णन ही क्यों संयोग और सौंदर्य वर्णन के भिन्न-भिन्न स्थलों में भी उसे देखा जा सकता है।) इस तरह के दोहों के कुछ उदाहरण देखिए—

(१) अजौं न आए सहज रँग बिरह दूबरे गात।
अब ही कहाँ चलाइयति ललन चलन की बात॥

(२) जदपि तेज रौहाल बल पलकौ लगी न बार।
तौ ग्वैंडो घर को भयौ पैंडो कोस हजार॥

(३) जहाँ जहाँ ठाढ़ी लख्यौ स्यामु सुभग सिरमौर।
बिन हूँ उन छिनु गहि रहतु दृगनु अजौं वह ठौर॥

(४) स्याम सुरति करि राधिका तकति तरनिजा-तीर।
अँसुवनु करति तरौंस कौ खिनकु खरौंहौ नीर॥

(५) कर के मीड़े कुसुम लौं गई बिरह कुम्हिलाइ।
सदा समीपिनि सखिनु हूँ नीठि पिछानी जाइ॥

इन दोहों में वे कौन सी ऐसी विशेषताएँ हैं जो इन्हें श्रेष्ठ काव्य में परिगणित करती हैं? यह प्रश्न स्वयं इन दोहों के लिए उतना महत्त्व नहीं रखता जितना मूल्यांकन की समस्या के लिए रखता है। यह कहा जा सकता है कि ये उक्तियाँ ऊहात्मक नहीं हैं, बाहरी नाप जोख से इनका संबंध नहीं है, शारीरिक ताप का अनुभावक वर्णन इनमें नहीं है। पर ये निषेधात्मक बातें तो अपने आप में काव्य के गुण नहीं हैं। कुछ और

निदचयात्मक (पाजिटिव) ढंग से कहना चाहें तो कह सकते हैं कि कथन की स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता के कारण इन दोहों को श्रेष्ठ माना जा सकता है। किंतु स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता जैसे गौण धर्म इसके काव्यात्मक सौन्दर्य के मापक नहीं हो सकते।

वास्तव में इन दोहों की श्रेष्ठता यथार्थ की काव्यात्मक पकड़ में निहित है। यथार्थ की जो पकड़ संताप-वीभत्स-प्रदर्शक दोहों में दिखाई पड़ती है वह अस्वाभाविक और मात्र भौतिक (फिजिकल) है। इसलिए उनकी भाव व्यंजनाएँ बाह्यतापरक हैं जो संवेद्य नहीं हो पाती। मानसिक यथार्थ का संबंध हमारी संवेदनाओं और सुख दुःखात्मक अनुभूतियों से होता है। भौतिक यथार्थ का अपने आप मे महत्त्व है बशर्ते वह मानसिक यथार्थ को उसके वास्तविक संबंधों में व्यक्त कर सके। 'औंधाई सीसी' वाले दोहे को लीजिए। 'सीसी का औंधाना' भौतिक यथार्थ है पर ताप से उसका जो संबंध स्थापित किया गया है वह बड़ा ही लचर और मूल्यहीन हो गया है—दूसरे शब्दों में वह संबंध अवास्तविक और मिथ्या है। वैयक्तिक दृष्टि से उसका चामत्कारिक महत्त्व हो सकता है पर वह सार्वजनीन दृष्टि से सहृदय संवेद्य नहीं हो सकता।

इसीलिए आचार्यों ने काव्य में वैयक्तिकता का निषेध किया है। टी एस ईलियट का निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत भी इसी बात की पुष्टि करता है। काव्य में निजी अनुभूतियाँ और विचार अनेक प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न करते हैं। रोमैंटिक काव्य को लेकर इस पर तरह-तरह की मान्यताएँ प्रस्तुत की गई हैं। इस सिलसिले में इस बात का विचार नहीं किया गया कि चामत्कारिकता के करिश्मे भी व्यक्तित्व से ही संबद्ध रहते हैं— निर्व्यक्तित्व से नहीं। बिहारी जहाँ पर्याप्त निर्वैयक्तिक हुए हैं वहाँ उनका काव्य अंतःद्रष्टा के धरातल पर पहुंच गया है।

संताप वीभत्सपरक दोहों तथा उपरिउद्धृत दोहों में एक अंतर और है। पहले प्रकार के दोहे में जिस सत्य की अभिव्यक्ति की गई है वह व्यंजित सत्य को इस तरह ढँक लेता है कि उसकी पूर्ण व्यंजना नहीं हो पाती। काव्य में जो कुछ व्यक्त किया जाता है वह वैज्ञानिक सत्य की तरह खंड सत्य नहीं होता प्रत्युत पूर्ण सत्य होता है। उसकी व्यंजना आगे बढ़ कर कथ्य को पूर्णता प्रदान करती है। परवर्ती दोहों का कथ्य अधिक पूर्ण और व्यंजक है। यही नहीं उनमें व्यक्त संवेदनाएँ अपेक्षाकृत कहीं अधिक गूढ़ और सूक्ष्म हैं।

पहला ही दोहा लीजिए। नायक के विदेश जाने का प्रसंग है। सखी कहती है कि अभी तो प्रथम वियोग से दुखित नायिका के अंगों में स्वाभाविक रंग तक नहीं आया। यह प्रथम वियोग के क्लेश को ही अभिव्यक्त करके नहीं रह जाता बल्कि इससे प्रथम वियोग का पूरा दुखात्मक वातावरण व्यंजित हो उठता है। इतना ही नहीं उस वियोग में तो बेचारी की यह दशा हुई पता नहीं इस वियोग में क्या होगा। प्रथम वियोग से दुबल शरीर और उसके रंग (कान्ति आदि) से विरह पूरी अभिव्यक्ति पा जाता है।

दूसरे दोहे के कथ्य की नींव गहरी मनोवैज्ञानिक वास्तविकता पर टिकी है। नायक अत्यंत तीव्रगामी घोड़े पर सवार है अतः उसे प्रिय के पास पहुँचने में तनिक भी विलंब नहीं लगा। किन्तु घोड़े का रास्ता हजार कोस दूर मालूम पड़ने लगा। सापेक्षवाद के सिद्धांत से परिचित लोगों को इसकी स्वाभाविकता में किसी तरह का संदेह नहीं हो सकता। मानसिक सत्य को भौतिक सत्य से इस तरह बाँधा गया है कि इसकी अस्वाभाविकता खलने के स्थान पर अच्छी लगती है।

चौथा दोहा अत्यधिक मार्मिक है। शास्त्रीय शब्दावली में यह स्मृति संचारी कहा जायगा। श्याम और यमुना तट का कितना गहरा संबंध है। इसी को विचारानुषंग (association of ideas) कहते हैं। यमुना तट पता नहीं कितने संदर्भों और अनुभूतियों को जागरित करने में समर्थ है। श्याम के साथ यमुना का कितना गहन संबंध है। इसलिए श्याम की स्मृति आते ही राधिका का यमुना तट की ओर देखना सहज है। यमुना तट अनेक स्मृतियों से लिपटे रहने के कारण इतना उत्तेजक (evocative) है कि आँखों से आँसुओं की धारा निकल पड़ती है। उनके आँसुओं से तट का जल सागर को खारा हो जाता है। सारी भंगिमा का यह परिणाम इसको अत्यंत गहन और अगाध बना देता है। स्मृति-जन्य संवेदनाओं के अंतर्संबंधों को इस ढंग से सूचित किया गया है कि सब मिलाकर वे अत्यधिक मर्मस्पर्शी बन गए हैं।

यही बात अंतिम दोहे के संबंध में भी कही जा सकती है। इस दोहे का मर्म ऊपर के पीछे कुसुमनों में निहित है। इसका चित्र इतना संवेदनाशील है कि विरह वेदना अपनी पूर्णता में व्यक्त हो उठती है।

४

शृंगारेतर भाव व्यंजना

शृंगार के अतिरिक्त बिहारी में अन्य प्रकार की भावाभिव्यक्तियाँ भी मिलती हैं। इनके तीन रूप हैं—अन्योक्तियाँ भक्ति परक रचनाएँ और प्रकृति वर्णन। नीतिपरक रचनाओं को इसके अंतर्गत नहीं लिया सकता क्योंकि वे मूलत भाव से नहीं बल्कि नीतिमत्तात्मकता से अनुप्राणित हैं। अन्योक्तियों के संबंध में भी यह प्रश्न उठाया जा सकता है। पर इनका संबन्ध कोरी नीतिमत्ता से नहीं है और न कोरा बुद्धि-विलास ही इन्हें अनुप्रेरित करता है। एक विशेष भावात्मक स्थिति में जब वाणी वक्र हो उठती है तो अन्योक्तियाँ अपने आप अभिव्यक्ति पा जाती हैं। इसलिए ये मुख्यत भावानुप्रेरित ही होती हैं। ये कभी क्षोभजन्य मन की उपज होती हैं तो कभी शांत मन की। क्षोभजन्य मन से प्रादुर्भूत अन्योक्तियाँ प्राय आक्रमणात्मक होने के कारण कटूक्तियाँ बन जाती हैं और कटूक्तियों को न तो जीवन में स्वस्थ माना जाता है और न साहित्य में। शांत मन से निकली हुई अन्योक्तियों में भी जो मीठी चुटकी रहती है उसकी मार अधिक सौजन्यपूर्ण किंतु तीखी होती है। इनके पीछे भी अवचेतन (सबकांसस) मन में छिपा हुआ कोई-न-कोई विरोध होता है। पर यदि यह विरोध व्यक्ति विशेष के प्रति प्रदर्शित किया जा रहा है तो व्यंग्य की मुग्धता समाप्त हो जायगी। इसके विषय की व्याप्ति जितनी अधिक होगी व्यंग्य भी उतना ही मार्मिक और प्रभावशाली होगा।

कवि जिस समाज और वातावरण में रहता है अपने व्यंग्य का विषय भी उन्हीं के बीच से चुनता है। जिस शृंगारिक वातावरण में बिहारी ने अपनी काव्य-प्रतिभा का विकास किया उसी में से उन्होंने हास-व्यंग्य की सामग्री भी चुनी। यद्यपि संख्या में व्यंग्यपरक दोहे बहुत कम हैं फिर भी उनमें पैनापन की कमी नहीं है।

जिन पौराणिकों, वैद्यों, ज्योतिषियों और मसखरों पर व्यंग्य किया है वे सामंतीय सामाजिक व्यवस्था की असंगतियाँ हैं। वे व्यक्ति न होकर टाइप हैं जो तत्कालीन समाज के मर्म का बहुत ही सटीक उद्घाटन करते हैं। एक पर उपदेश कुशल की करतूत देखिए—

> परतिय-दोषु पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि।
> कसु करि राखी मिश्रहू मुँह आई मुसकानि॥

किसी कथा प्रेमी समाज में पौराणिक जी कथा सुना रहे थे। वे एक ऐसे प्रसंग की व्याख्या कर रहे थे जिसमें पर-स्त्री-गमन को दोष माना गया था। श्रोताओं में उनकी परकीया भी बैठी हुई थी। उनकी व्याख्या सुनकर वह हँस पड़ी। मिश्र जी से यह हँसी न छिपी हो ऐसी बात नहीं थी। उन्हें भी हँसी आ गई। पर चतुर पौराणिक ने बलपूर्वक अपनी हँसी रोक ली जिससे उसका रहस्योद्घाटन न हो जाय।

यह थी उस समय के पौराणिकों की दशा। शास्त्र के सारे विधि निषेध केवल दूसरों के लिए थे। वे उनसे परे स्वतन्त्र और उच्छृंखल थे।

अब एक वैद्य जी की पहचान कीजिए—

> बहु धन लै अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
> बैद बधू हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि॥

वैद्यराज जी ने काफी धन लिया और अपने भस्म की तारीफ करते हुए बड़े निहोरे से दवा दी। बेचारे नपुंसक रोगी को क्या पता कि वैद्य जी भी इसी मर्ज के मरीज हैं। वैद्यराज की बधू भी वहीं बैठी हुई थी। वह रहस्य पूर्ण ढंग से हँसी और अपने पतिदेव का मुँह देखकर रह गई।

वैद्यों के धोखे और व्यर्थ दवा पर कितना सहज व्यंग्य है।

एक ज्योतिषी जी की उलझन भी जानने और देखने ही लायक है—

चित पित मारक जोगु गनि, भयौ भयैं सुत सोगु।
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी, समुझैं जारज जोगु॥

ज्योतिषी जी को पुत्र रत्न प्राप्त हुआ। जब उन्होंने उसकी कुंडली बना ली तो देखा कि ग्रह संस्था में पितृ मारक योग पड़ा है। इससे उनको बहुत शोक हुआ। पर जन्म में जारज योग समझ कर वे मन ही मन परम प्रसन्न हुए। जान बची लाखों पाए।

किसी रसिक ने एक सुन्दरी से बहनापे का नाता जोड़ लिया है। पर इस नाते के मूल रहस्य को समझती हुई उसकी सखी कहती है—

बहकि न इहिं बहिना पुनी जब तब वीर बिनास।
बचै न बड़ी सबील हूँ चील घोंसुआ मांस॥

'इस बहनापे की चाल तुम नहीं समझती इसके चक्कर में न फँसना। इससे कभी न कभी बहुत बड़ा अनर्थ हो जायगा। तुम अपनी तरह ही सबको सरल जानती हो। चील के घोंसले में बहुत उपाय करने पर भी मांस नहीं बचता।

उस मध्यकालीन युग पर यह व्यंग्य जितना सत्य है उससे कहीं अधिक आज के युग पर। न तो उस समय उस संबंध की पवित्रता का निर्वाह हो पाता था और न वह आज ही होता दीख पड़ता है। आज की पाश्चात्य संस्कृति में बहिन या 'बहिन जी' का अर्थ व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता।

इस तरह की सूक्ष्म व्यंग्योक्तियों का रीतिकालीन कविता में सर्वथा अभाव मिलेगा। व्यंग्य विनोद की सर्जना बहुत बड़ी प्रतिभा की मांग करती है। इस प्रतिभा के अभाव में व्यंग्य विनोद के नाम पर भड़ौवा की रचना होने लगती है, जिसके नमूने आधुनिक हास्य रस की ढेर की ढेर रचनाओं में प्रायः देखने को मिलते रहते हैं।

बिहारी ने अपनी सतसई में जहाँ एक ओर परकीया प्रेम के संबंध में काफी दोहे लिखे वहाँ उसका मजाक उड़ाने में भी नहीं चूके। इन व्यंग्योक्तियों से यह बात काफी स्पष्ट हो जाती है। इस असंगति का मुख्य कारण यह है कि सामंतीय वर्ग में प्रेम का कोई अस्तित्व नहीं था। वह प्रेम के नाम पर मनोविनोद किया करता था। प्राचीन नायकों की तरह निश्चिन्त विलास भी वे नहीं कर सकते थे। यह युग न उस वैभव की ऊंचाइयों को स्पर्श कर सकता था और न पवित्रता

गहराइयों में उतर सकता था। नैतिकता के भय से उसने अपने को सबथा न नहीं कर पाया था। इस द्विधा की स्थिति में नैतिकता के लिए कोई न स्थान नहीं रह पाता। वह और भी विकृत हो जाती है। इस विकृत उकता पर बिहारी ने बहुत ही चुभते हुए प्रहार किए हैं।

भक्ति भावना

भक्ति एक रस है अब यह निर्विवाद हो गया है। यह सच हो सकता है साधारणीकरण की दृष्टि से यह अपेक्षाकृत सीमित है। रस और साधारणीकरण पर विचार करते समय हमारे देश के आचार्यों की दृष्टि सदा पाठक या सहृदय पर रही है। किंतु कर्ता या कवि की काव्य प्रक्रिया को छोड़ का परिणाम यह हुआ कि काव्य नैतिकता के धरातल पर आ खड़ा ा। इससे कवि के उचित मूल्यांकन में बाधा भी आई। वास्तव में वि का सच्चा विश्लेषण दोनों सिद्धांतों के आधार पर ही किया जा ता है।

भक्ति भावना को ही लीजिए। भक्त कवियों की रचनाओं को देखने से न होता है कि भक्ति उनके जीवन का अनिवार्य अंग हो गई थी। इसीलिए नकी कृतियाँ भी सहज ही भावाभिव्यक्ति बन सकीं। रीति कवियों की भक्ति वना या तो परंपरा का पालन करती है या जीवनगत वैराग्य और क्षोभ आश्रय स्थल प्रस्तुत करती है। बिहारी की भक्ति-परक रचनाओं को इसी कोटि में रखना चाहिए क्योंकि वे भक्त काल के भक्त कवि के कवियों की भाँति द्विधात्मक स्थिति में नहीं पड़े और न पेट की चोट में उन्हें दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं।

परंपरा पालन के कारण बिहारी की भक्तिपरक रचनाओं में न भावदग्ध मिलता है और मौलिक उद्भावना। पर यह कहना कि शृंगारिक वना के आवेश में उन्होंने मुक्ति का निषेध किया है अत्यंत भ्रामक। 'बिहारी और उनका साहित्य' में डा॰ हरवंशलाल शर्मा और ी परमानंद शास्त्री ने संयुक्त रूप से उपर्युक्त धारणा की है। अपने मत की ष्टि में लेखक द्वय ने बिहारी के निम्नलिखित दो दोहे उद्धृत किए हैं—

> जौ न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति-मुँह दीन।
> जौ लहियै सँग सजन तौ धरक नरक हू कीन॥

चमक, तमक हाँसी, ससक मसक, झपट लपटानि।
ए जिहिं रति, सो रति मुकति और मुकति अतिहानि॥

इन दोहों के आधार पर अद्भुत निष्कर्ष निकालने के पहले यदि रत्नाकर जी की टीका देख ली गई होती तो इस भ्रांति के लिए अवकाश न मिलता। बिहारी रत्नाकर में प्रथम दोहे की टीका यों की गई है—

उद्धव जी से गोपियों का वचन—यदि [मुक्ति] प्रियतम की युक्ति नहीं है (अर्थात् प्रियतम प्राप्ति की युक्ति के अतिरिक्त कोई और वस्तु है), [तो हमने ऐसी] मुक्ति के मुँह में धूल झोंकी (अर्थात् ऐसी मुक्ति से हम बाज आईं) [और] यदि प्रियतम संग में प्राप्त हो तो [हमको] नरक की भी धड़क नहीं है।

क्या इसमें शृंगारिक भावना के आवेश में मुक्ति का निषेध किया गया है? मान लीजिए आपको रत्नाकर जी द्वारा कल्पित प्रसंग नहीं अच्छा लगता है और आप उस दोहे को मौलिक प्रसंग देना चाहते हैं। इससे किसी को एतराज नहीं हो सकता है। पर इस दोहे में प्रेम के जिस उज्ज्वल और उदात्त पक्ष को चित्रित किया गया है, उसे भी तो नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। इस शुभ एकांतिक प्रेम में राग की जो सांद्रता है वह इसके मानवीय मूल्य को काफी बढ़ा देती है। इसमें मुक्ति का निषेध देखना तो वैसा ही है जैसा सूर के 'हरि, हौं सब पतितन को राउ' में सूर का चारित्रिक दोष देखना।

इसी प्रकार दूसरे दोहे में भी मुक्ति का निषेध नहीं माना जा सकता। काव्य सत्य और वस्तु सत्य का भेद न करने पर इसी तरह के अद्भुत वक्तव्य दीख पड़ते हैं। बिहारी स्वयं कहते हैं—

मोहूँ दीजै मोषु, ज्यौं अनेक अधमनु दियौ।
जौ बाँधै ही तोषु तौ बाँधौ अपनै गुननु॥

वास्तविकता यह है कि शृंगारिक कविताओं की भाँति भक्तिपरक रचनाओं में भी बिहारी ने परंपरा का पालन किया है। भक्तों के मोटे सिद्धान्तों को ही इन्होंने अपने दोहों में व्यक्त करना उचित समझा। सामान्य भक्तों की भाँति इनका दृष्टिकोण भी मर्यादावादी था। साक्षात्कार के संबंध में इन्होंने जो कुछ उद्गार व्यक्त किए हैं वे भक्त कवियों की भावनाओं के

भेस में है। आत्मनिवेदन संबंधी दोहों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

हिंदी साहित्य के भक्ति काल में भक्त कवियों ने भक्ति की जो मंदाकिनी बहाई उसके प्रवाहस्रोत में मत-मतांतरों के क्षुद्र तृण ठहर न सके। तुलसी की सर्व-धर्म-समन्वय की धारणा तथा सूर की स्वच्छ असांप्रदायिक दृष्टिकोण असांप्रदायिक दृष्टि ने इस दिशा में जो स्तुत्य कार्य किया उसका इतना गंभीर और व्यापक प्रभाव पड़ा कि सांप्रदायिक विद्वेष की खाई सर्वदा के लिए पट गई। विभिन्न संप्रदायों में दीक्षित होने पर भी रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त कवियों ने किसी विशेष मत के प्रति आग्रह नहीं व्यक्त किया प्रत्युत् अपने पूर्ववर्ती भक्त कवियों द्वारा निर्दिष्ट सामान्य भक्ति मार्ग का ही अनुसरण किया।[1]

बिहारी ने अपने समय के सभी कवियों का प्रतिनिधित्व करते हुए लिखा है—

अपने अपने मत लगी, बादि मचावत सोर।
ज्यौं त्यौं सबकौ सेइबौ, एकै नन्दकिसोर॥

इसी दृष्टिकोण के कारण राम कृष्ण रघुराज मुरारि सभी समानार्थी हो गए थे। इनको सांप्रदायिक रंग से इन कवियों ने नहीं देखा। पं विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार ' राम और कृष्ण में ये लोग कोई भेद नहीं समझते थे। भगवान की एक सामान्य भावना लेकर ही अपनी उक्तियाँ गढ़ा करते थे। यही कारण है कि राम की लीला कृष्ण के नाम पर और कृष्ण की लीला राम के नाम पर कह देते थे। सूर और तुलसी ने भी ऐसा ही किया है।[2]

भक्त कवियों और संतों ने प्रायः बाह्य आडंबर का व्यर्थ बतलाते हुए बाह्याचार आंतरिक प्रतीति में अपनी आस्था प्रकट की है। रीति कवियों ने इस विषय में स्फुट रूप से जो कुछ लिखा है वह उन्हीं भक्तों और संतों की परंपरा में पड़ता है—

१—डा॰ बच्चन सिंह रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, ना० प्र० सभा, पृ० ४१७।

२—बिहारी।

(१) जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै रामु॥
—बिहारी

(२) काहे को कपीवर की घोरि करौ आडंबर,
काहे को दिगंबर ह्वै धूम खाइ रहिये।
कहै 'पद्माकर' त्यों काय के कलेस हित,
सीकर समीर सीत घाम ताप सहिये।
काहे का कपोगे जप काहे को तपोगे तप
काहे को प्रपंच पंच पावक में दहिये।
रैन दिन आठो जाम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये।
—पद्माकर

सख्य और उपालंभ

सख्य भाव की उपासना में वाणी का वक्र हो जाना स्वाभाविक होता है क्योंकि सखा भाव के कारण उपासक और उपास्य बहुत कुछ एक धरातल पर आ खड़े होते हैं। इसके फलस्वरूप भक्त उपालंभ देने के लिए भी रास्ता खोज निकालता है। सूर के ढंग पर बिहारी ने इस तरह की उक्तियाँ कही हैं—

(१) कौन भाँति रहि है बिरदु अब देखवी मुरारि।
बीधे मोसों आइकै, गीधे गीधहिं तारि॥
(२) मोहिं तुम्हें बाढ़ी बहस, को जीतै जदुराज।
अपने अपने बिरद की, दुहुन निबाहन लाज॥
(३) नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन बिरदु बारक बारन तारि॥
(४) बन्धु भये का दीन के को तार्यौ रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे बिरद कहाइ॥

आत्मनिवेदन

यद्यपि भक्तों की देखा-देखी रीति कवियों ने भी भगवान के प्रति आत्म निवेदन किया है पर इस निवेदन में वह तन्मयता और विभोरता नहीं है। रीतिकवि कवि थे। भक्त कवियों की भाँति उनका पूर्ण जीवन भगवान को कभी समर्पित नहीं हुआ। इसलिए उनकी कविताओं में वह विह्वलता ढूँढ़ना उनके साथ अन्याय करना है। कभी कभी उनकी रचनाओं में जो भावपरक

विद्रूपता दिखाई पड़ती है वह एक विशेष सामाजिक स्थिति की उपलब्धि है। बिहारी की शृंगारपरक रचनाओं की भाँति भक्तिपरक रचनाओं में भी आवेगमयता कहीं नहीं मिलती पर इनमें भी यत्र-तत्र संयम और संवेदन दिखाई देता। एक उदाहरण लीजिए—

> तजि तीरथ हरि राधिका-तनदुति कर अनुराग।
> जिहिं ब्रजकेलि निकुंज मग पग पग होत प्रयाग॥

इसके साथ ही मतिराम का भी एक दोहा देखिए—

> राधा मोहन लाल कौ जिन्हें न भावत नेह।
> परियो मुठी हजार दस, तिनकी आँखिन खेह॥

आवेग और संवेदना की चर्चा पीछे कहीं उठाई जा चुकी है। अतः यहाँ उसका पिष्टपेषण हम अभिप्रेत नहीं है। मतिराम के दोहे में कवि की आवेगमयता पूरी ऊँचाई पर पहुँची हुई है। पर बिहारी के दोहे की संवेदन शीलता सहृदयों पर अधिक गहरा और स्थायी प्रभाव डालती है। मतिराम के दोहे में बात आवेशात्मक ढंग से कह दी गई है पर बिहारी के दोहे का कथ्य पाठकों से कुछ अधिक मौन करता है। वो इस प्रकार के दोहे बहुत कम हैं।

भक्त-संतों के वैराग्य संतोष नारी-निंदा आदि के बिना इस परंपरा का पूरा निर्वाह नहीं किया जा सकता था। अन्य रीति कवियों की अपेक्षा विषयों का निषेध बिहारी ने इस पर विशेष ध्यान दिया है। इन दोहों में भावों की प्रगाढ़ता तो नहीं है पर कलात्मकता जरूर है—

(१) जम करि मुँह तरहरि पर्यौ इहिं धरहरि चित लाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ॥

(२) दीरघ साँस न लेहि दुख सुख साईं हि न भूल।
दई दई क्यौं करतु है, दई दई सु कबूल॥

(३) या भवपारावार कौं उलँघि पार को जाइ।
तिय छबि छाया ग्राहिनी गहै बीच ही आइ॥

प्रकृति के जिन संश्लिष्ट चित्रों की ओर सहृदय बरबस खिंचे चले जाते हैं उन्हें बिहारी में देखा जा सकता है। पूरे रीतिकाल में इस तरह से भावपूर्ण प्रकृति प्रकृति-विषयक चित्र बहुत कम मिलेंगे। इस दृष्टि से भी बिहारी बेजोड़ है—

(१) छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधवी गंध ।
ठौर ठौर झूमत झपत, भौंर भौंर मधु अंध ॥

(२) कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ ।
जगत तपोवन सौ कियौ, दीरघ दाघ निदाघ ॥

(३) बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन-मन माँह ।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँह ॥

पहले उदाहरण में वसंत-श्री का इतनी कम रेखाओं में जितना व्यंजक चित्र खींचा गया है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। गंधपूर्ण वसंती वातावरण अपनी समस्त समृद्धि में चित्रमय हो उठा है। दूसरे उदाहरण में चमत्कार की प्रधानता हो गई है। तीसरे उदाहरण में एक पंक्ति के सहारे निदाघ की भीषणता की पूर्णता व्यक्त करने में कवि को पूरी सफलता मिली है।

५

अभिव्यक्ति के प्रसाधन

(अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए कवि को भाषा का माध्यम ग्रहण करना पड़ता है। कभी ये अनुभूतियाँ इतनी सशक्त होती हैं कि वाणी के माध्यम से अपने आप फूट पड़ती हैं और कला के समस्त उपकरण अनायास आ जुटते हैं।) कभी यह भी होता है कि कला के पूर्वनिश्चित उपादान अनुभूतियों अथवा भावों के प्रखर प्रवाह को सँभाल नहीं पाते। वे स्वयं उसमें बह कर बिखर जाते हैं। किंतु अनुभूतियाँ अपना नया आकार ग्रहण कर लेती हैं। ऐसा प्रायः रोमैन्टिक कवियों के साथ होता है। इसलिए रोमैंटिक कवियों ने परंपरागत बंधनों में बँधना कभी भी स्वीकार नहीं किया। किंतु एक विशेष आकार को स्वीकार कर चलनेवाले कवि अपेक्षाकृत अधिक सचेत होते हैं फलस्वरूप उन्हें कलात्मक निर्मिति का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। बिहारी में जो कलात्मक सफाई काट-छाँट नाप-जोख दिखाई देती है वह उनकी सजगता और सतर्कता का परिचायक है।)

निराकार अनुभूतियों को आकार देने के लिए कवि उनका संमूर्तन करता (अर्थात् उन्हें चित्र रूप में प्रस्तुत करता है। इस संमूर्तन के लिए वह नपी-तुली रेखाओं आवश्यक रंगों समुचित परिप्रेक्ष्य का पूरा ध्यान रखता है। वास्तव

संमूर्तन (इमेज) बाह्याकार का अनुकरण नहीं होता वह मुख्यतः कवि की कल्पना और अनुभूतियों से निर्मित होता है। बाह्य जगत के रूप-विन्यास से प्रभावित होकर कवि जब उसे भाषा में उतारने का प्रयास करता है तो उसे स्वतः नए सौंदर्यबोधात्मक संदर्भ मिल जाते हैं जो विषय और भावों को एक प्रतीकात्मक अर्थ भी प्रदान करते हैं।

संमूर्तन की कोशगत मनोवैज्ञानिक परिभाषा है—Image is a revival reproduction by memory in the mind of some sensuous experience undergone in the past including the visual, auditive, tactile, and other impressions associated with it. अर्थात् भूतकाल के चाक्षुष श्रवणात्मक संस्पर्शात्मक तथा अन्य अनेक प्रभावों के संयोग से जिन स्मृत्यात्मक अनुभूतियों को पुनः स्थापित किया जाता है उन्हें संमूर्तन की संज्ञा दी जाती है। पर कला में बाह्य जगत से गृहीत भूतकालीन स्मृतियों का पुनः सृजन होता है। इसी से तो कहा जाता है कि कला प्रकृति के अभावों की पूर्णता है। इस पुनः सृजन में अनेक प्रकार के संमूर्तनों—चाक्षुष श्रवणात्मक संस्पर्शात्मक आदि—को आवश्यकतानुसार संमिश्रित भी कर लिया जाता है। इनके सुन्दर और औचित्यपूर्ण संमिश्रण से संमूर्तनों की प्रभावोत्पादनक्षमता बहुत बढ़ जाती है। रूप रस गंध स्पर्श सभी का समावेश काव्य को अत्यधिक उदात्त बना देता है। आश्रय और आलंबन की अनेकानेक चेष्टाओं और अनुभावों का चित्र संमूर्तन विधान के ही अंतर्गत आएगा।

'साकारकृत काव्य-चित्रों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—लक्षित चित्र श्रेणी (डाइरेक्ट इमेजरी) और उपलक्षित चित्र श्रेणी (फिगरेटिव इमेजरी)। मुख्यतया बाह्य रेखाओं पर आधारित रहने के कारण लक्षित चित्रों को रेखाचित्र की अभिधा दी जा सकती है। रेखाचित्रों में आलंबन के रूप सौंदर्य और उसकी चेष्टाओं आदि को अंकित किया जाता है। काव्य में उपलक्षित चित्रों को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इन चित्रों में कवि अपने अतीभूत भावों को अप्रस्तुतों के सादृश्य विधान द्वारा बहुत सरल और मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त करता है।'[2] इसके अतिरिक्त विशेषणों और क्रम

१—Ronald Peacock the Art of Drama P P 96

२—डा० बच्चन सिंह रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना ना० प्र० सभा काशी। पृ० १९६-९४

ध्वनियों से भी भावों का संमूर्तन किया जाता है। यहाँ पर हम विशेषणों और अप्रस्तुत ध्वनियों पर आधारित संमूर्तना की विवेचना करेंगे। इसके पश्चात् लक्षित तथा उपलक्षित चित्रों का विश्लेषण किया जायगा।

(भावोद्दीपन में उपयुक्त और चित्रोपम विशेषणों का चयन काव्य-शिल्प का विशिष्ट उपकरण है।) सामान्य विशेषण बहुत कुछ अस्पष्ट और अमूर्त रहने के कारण हमारी भावना को आकार नहीं दे पाते। (काव्योचित विशेषण इंद्रियगोचर मूर्त रूप की सृष्टि में अधिक समर्थ होते हैं।) वे स्पष्ट रूप से विशेष क्रिया अर्थ या छवि का द्योतन करते हैं। ये अपने आप में विशेष्य के व्यापार नहीं हैं। इनके मूल में कवि का अपना दृष्टिकोण भी निहित है। वस्तु के प्रति अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए ही विशेषण का चुनाव किया जा सकता है उसका पर्यायवाची विशेषण कवि का अभिप्रेत अर्थ नहीं दे सकता। इस तरह के उपयुक्त विशेषणों के चुनाव में बिहारी बेजोड़ हैं। नीचे कुछ विशेषणों के उदाहरण दिए जाते हैं जिनका चुनाव बिहारी बोधिनी के आधार पर किया गया है—

बंक बिलोकनि (दो० ७६) अनियारे नयन (दो० ८६) अहेरी नैन (दो० १२७) ललचौंही चितवनि (दो० २३६) लगौहैं नैन (दो० ४०१) ललसौहैं नैन (दो० ४११) तिरीछे नैन (दो० ४२५) निगोड़े नैन (दो० ४२८) उठंग उरोजनि (दो० २६६) सुरंग कुसुम्भी चुनरी (दो० ११८)

बिहारी ने आँखों के लिए प्रायः एक ही विशेषण का प्रयोग किया है। ऐसा करने के मूल में दो कारण दिखाई पड़ते हैं। एक तो (बिहारी सजग कलाकार होने के नाते शब्दों का खूब जान-बूझकर प्रयोग करते हैं दूसरे उनके दोहों की संकीर्ण सीमा में बहुत से विशेषण आ भी नहीं सकते थे।) आकारमूलक विशेषण बिहारी में कम ही मिलेंगे। इनके विशेषणों को क्रियामूलक (functional) कह सकते हैं। अपने विशेष्यों के स्वभाव या क्रिया को अंकित करने के लिए उन्होंने क्रिया-विशेषणों का प्रयोग अधिक किया है। पर इन विशेषणों के मूल में बिहारी की अपनी मनोवृत्ति भी अनुस्यूत है। 'ललचौहैं' 'लगौहैं' 'ललसौहैं' आदि विशेषण विशेष्य के विशेष स्वभाव के साथ ही यह भी सूचित करते हैं कि बिहारी का प्रेम मुख्यतः क्रीड़ात्मक था। घन आनंद के विशेषण बिहारी के विशेषणों से सर्वथा भिन्न हैं। 'तृषित चलनि' 'अँखियाँ दुखहाईं' में कवि की मनोव्यथा का व्यथापूर्ण चित्र अंकित हुआ है।

मुक्तकों में प्रायः यह देखा जाता है कि परिस्थिति विशेष में आश्रय की कल्पना करली पड़ती है। विशेषणों में जिस विशेषणता का विधान किया जाता है वह बहुत कुछ आश्रय के दृष्टिकोण का—इसे कवि का दृष्टिकोण भी कहा जा सकता है—परिचायक होता है[1]।

(परिवेश निर्माण के निमित्त काव्य में ध्वनि-चित्रों का विशेष महत्त्व है।) कविता और कथा-साहित्य में ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा उत्तवनात्मक प्रति ध्वनि-चित्र ध्वनियाँ पैदा की जाती हैं। (काव्य में प्रतिध्वनियाँ मुख्यतः संवेगों पर चोट करती हैं) और कथा-साहित्य में बाह्य प्रभाव का बोध कराती हैं। कविता में इनकी गूंज का महत्त्व है तो कथासाहित्य में इनकी चित्रात्मक शक्ति का।

रीतिकालीन कवियों ने प्रायः तीन प्रकार की शब्द-ध्वनियों का प्रयोग किया है—(१) रणनात्मक (२) अनुकरणात्मक और (३) व्यंजक। प्रथम शब्दध्वनि सर्वाधिक मुखर और सबसे कम व्यंजक है। दूसरी स्थिति पहली और तीसरी की मध्यवर्तिनी है।

रति के विशिष्ट प्रसंगों में श्रुतिमधुर ध्वनियों की रणात्मक शोभा देखिए—

(१) झाँझरियाँ झनकैगी खरी खनकैंगी चुरी तनकी तन तोरे।

—दास

(२) किंकिनि की झहराइ के किंकिन पीछे सुकी झुक की झुकवैनी
जो बिछिनाम बजावत बाल मराल के बालनि ज्यों मृगनैनी।

—तोष

पर (बिहारी की रणनात्मक ध्वनियाँ इतना शोर नहीं मचाती। वे अपेक्षाकृत संयमित और व्यंजकतापूर्ण हैं—)

(१) छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधुरी गंध।
ठौर ठौर भौंरत झँपत भौंर भौंर मधु-अंध॥

(२) रनित भृंग घंटावली झरित दान मधु नीर।
मंद-मंद आवत चल्यौ कुंजरकुंज-समीर॥

१—विस्तार के लिए देखिए—'रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना' का प्रेमव्यंजना की भाषा शैली' अध्याय।

'भौंरन' 'भौंपन' तथा 'भौंर-भौंर' से भौंरों का पागल होकर पुष्प गंध की ओर आकृष्ट होना दौड़ना फिर पड़ना बहुत ही अच्छी तरह व्यंजित हो उठता है। इसी प्रकार दूसरे दोहे में 'रनित' और 'भगवती' शब्द भी ध्वन्यात्मक हैं जो एक परिवेश विशेष का निर्माण करने में पूर्ण समर्थ हैं। इस माध्यम से संस्कृत के कवियों ने भी अत्यन्त सुन्दर वातावरण निर्मित किए हैं। भवभूति का एक उदाहरण देखिए—

गुञ्जत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघूत्कारसंवलित
क्रन्दत्फेरवचण्डडात्कृतिभृतप्राग्भारभीमैस्तटैः।
अन्तःशीर्णकरङ्कर्परसरित्संरोधिकूलङ्कष
स्रोतोनिर्गमघोरघर्घररवा पारेश्मशानं सरित॥

इसमें श्मशान का वातावरण अपनी पूर्ण भयंकरता में चित्रित हो उठा है। (छायावादी कवियों में निराला और पंत ने ध्वन्यात्मक शब्दों से रमणीय वातावरण का बहुत सुंदर निर्माण किया है।)

अनुकरणात्मक शब्द-ध्वनि का एक उदाहरण देखिए—

रुक्यो साँकरे कुंज मग करत झाँझ झुकरात।
मंद मंद मारुत तुरँग खूँदत आवत जात॥

'झाँझ' और 'झुकरात' शब्द मारुत और घोड़े का व्यंजनात्मक चित्र उपस्थित करते हैं।

तीसरे प्रकार के वे शब्द हैं जो नाद-तत्त्व (एलीमेंट आफ साउंड) द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। उदाहरणार्थ—

लहलहाति तन तरुनई लचि लग लौं लफि जाइ।
लगैं लाँक लोइन भरी लोइनु लेति लगाइ॥

हरी भरी खेती का झूमना और धूप में हिलते डोलते और चमकते देखकर लोग कहते हैं कि खेत खूब लहलहा रहे हैं। तरुणाई के प्रसंग में इसके मुख्यार्थ का बाध होता है और लक्षणा के सहारे इससे स्वस्थ प्रसन्न और मादक यौवन की अर्थप्रतीति होती है। इसी तरह देव के 'उमड्यौ परत रूप' में लक्षणा द्वारा रूपाधिक्य का इंद्रियग्राही चित्र उपस्थित किया गया है। काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से ऐसे शब्दों का विशेष महत्त्व है।

रीति कवियों ने अपने काव्य का अनेक प्रकार से अलंकरण किया है। अलंकृति को अलग करके इन काव्यों का अध्ययन बहुत कुछ अधूरा रह

जायगा। इसके लिए कवियों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता—यह युग का धर्म था। इस अलंकृति को उस समय के किसी भी सांस्कृतिक क्षेत्र में देखा जा सकता है—चित्र में वास्तुकला में संगीत में। यदि यह कहा जाय कि उस समय का सारा जीवन अलंकृतिमय हो चुका था तो कोई अत्युक्ति न होगी। अतः यह स्वाभाविक था कि जीवन की सहज स्फूर्ति खो जाती। काव्य के लिए भी यही सत्य है।

इस अलंकृति का परिणाम यह हुआ कि रीति काव्यों में अनेक मनोरम चित्रों की अवतारणा हो गई। यों तो चित्रमयता भाषा का सहज धर्म है पर चित्रों की इतनी बहुलता शायद ही और कहीं दिखाई पड़े। चित्रों के अतिरिक्त ध्वनि और अलंकार का समावेश भी प्रसाधन के रूप में इन्होंने किया है। इसलिए बिहारी के काव्य-प्रसाधन का विवेचन करने के लिए भी हमें इन्हीं उपकरणों का ध्यान रखना होगा।

पीछे लक्षित चित्र योजना (Direct Imagery) और उपलक्षित चित्र-योजना (Figurative Imagery) की बात कर आए हैं। लक्षित चित्र-योजना वह है जो सहज ढंग से लक्षित हो जाती है। इसमें प्रधानतया रेखा और रंग का प्रयोग होता है। उपलक्षित चित्र-

चित्र-योजना

योजना का संबंध सादृश्यमूलक अलंकारों से है। यह अपेक्षाकृत अधिक गूढ़ और व्यंजक होती है।

रेखा-चित्र केवल स्थूल चाक्षुष चित्र नहीं है उनमें शब्द स्पर्श गंध रस को भी समाविष्ट समझना चाहिए। काव्य में केवल चाक्षुष चित्र (Visual Imagery) का जिसमें शब्द स्पर्श आदि का

लक्षित चित्र योजना

समावेश नहीं होता है विशेष मूल्य नहीं आंका जाता। ऐसे चाक्षुष चित्र प्रायः बड़े और मोटे रूप में वस्तुमुखी होते हैं और वे सूक्ष्म इंद्रियबोध को संतुष्ट करने में प्रायः असफल दीख पड़ते हैं।[1]

रेखा-चित्रों में जिन वस्तुओं मुद्राओं अथवा भंगिमाओं को अंकित किया जाता है उन्हें इतना वास्तविक नहीं होना चाहिए कि कला में उनकी कल्पना ही न हो सके। वे भी वास्तविकता का भ्रम ही पैदा करती हैं। इसे और

१—रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना डा० ब० स० भाटी पृ० १८८

स्पष्ट शब्दों में यों कहना होगा कि वस्तुतः कलात्मक चित्र वास्तविकता के किसी-न-किसी नए पक्ष का स्पर्श करते हैं।

वास्तविकता का यह नया पक्ष कवि की रुचि, संस्कृति आदि से अच्छी तरह संबद्ध होता है। इन चित्रों से उसकी उर्वरता पर भी प्रकाश पड़ता है। पर उनकी सफलता इसमें नहीं है कि वे किन उद्देश्यों को प्रकट करते हैं बल्कि इसमें है कि वे किस सीमा तक पाठकों की भावनाओं को जगाते अथवा उनके संवेगों को तीव्र बनाते हैं।

कुछ रेखा-चित्रों को देखिए—

कंजनयनि मंजन किये बैठी ब्यौरति बार।
कच अँगुरिन बिच दीठि दै चितवति नंदकुमार॥

इस चित्र में पाँच रेखाओं का प्रयोग किया गया है—कंजनयनि मंजन किये बैठी ब्यौरति बार कच अँगुरिन बिच दीठि दै और चितवति नंद कुमार। ये सभी रेखाएँ चित्र को पूर्णता प्रदान करती हैं। एक विशेष संदर्भ के अनुरूप अर्थपूर्ण उपकरणों को चुन लिया गया है। (अपेक्षित उपादानों का कुशलतापूर्वक चयन और उनका सुश्लिष्ट संयोजन बिहारी के चित्रों की प्रधान विशेषता है) ये दोनों बातें बिहारी के प्रायः प्रत्येक चित्र में मिलेंगी। कलागत चित्र और वास्तविकता में अंतर होता है। पहले में कलागत सत्य का उद्घाटन होता है तो दूसरे में वैज्ञानिक सत्य का। कलागत सत्य में कलाकार की अपनी दृष्टि निहित होती है। इसकी दूसरी विशेषता यह होती है कि यह एक विशेष माध्यम (भाषा रेखा रंग आदि) में अपनी व्यंजना में स्थिर रहता है जब कि वास्तविक वस्तुएँ समय के साथ परिवर्तित होती रहती हैं। यह चित्र हमारी ऐंद्रिय चेतना को छूने में समर्थ है। इसकी व्यंजकता को ठीक से परखने के लिए पद्माकर का एक चित्र लीजिए—

आवति चलीसी छिति छहरि छटा की छोर,
भोर उठि, आई केलि-मंदिर के द्वार पर।
एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज एक कर है किवार पर॥

पद्माकर का यह वर्णन बहुत कुछ फोटोग्राफी के निकट पहुँच गया है। अंतिम दो पंक्तियों में यह जड़ हो गया है। पर बिहारी के उपर्युक्त चित्र में 'ब्यौरति' और 'चितवति' ने चित्र को सजीव बना दिया है।

धरे दुहूँनी जिमि करै, जिमि तू बोहि उतारि।
बीचै है छीकै छुवै, ऐसी रहि नारि॥

पहले चित्र की अपेक्षा यह अधिक स्थिर है। अपनी व्यंजना के बावजूद भी इसकी रम्यता ऐंद्रियोत्तमक हो जाती है। यहाँ पर बिहारी की चमत्कारिकता देखी जा सकती है संवेदनात्मकता नहीं।)

संवेदना मूलक चित्र दूसरे हैं—

(१) खलित बचन, अध खुलित दृग, ललित स्वेद कन जोति।
अरुन बदन छवि मद छकी, खरी छबीली होति॥

(२) लखि लखि अँखियन अध खुलित आँगु मोर अँगराइ।
आधिक उठि लेटत लटकि, आलस भरी जम्हाइ॥

(३) चाले की बातें चली सुनत सखिन के टोल।
गोएँ हूँ लोचन हँसत बिहँसत जात कपोल॥

प्रथम दो मुद्राएँ हैं—एक मद विह्वला की दूसरी रतिश्रान्ता की। (दोनों में कवि की पर्यवेक्षण-शक्ति एवं चयन की सूक्ष्मता को देखा जा सकता है। यहाँ पर भी वही बारीकी है जो उस समय के चित्रों और वास्तुकला में प्रकट हुई है। 'कंचनतनि' वाले दोहे में व्यक्त मुद्रा और इनमें व्यक्त मुद्राओं में स्पष्ट अंतर देखा जा सकता है। उसे चित्र में भी बाँधा जा सकता है पर ये चित्र की रेखाओं में नहीं अँट सकते।

इनके लिए चित्र नहीं चलचित्र की आवश्यकता होगी। रेखाओं में खलित बचन कैसे चित्रित किया जायगा? आधी खुली हुई आँखों स्वेद कण की ज्योति अरुण बदन छवि मद-विह्वलता आदि को रेखाओं में बाँधा जा सकता है पर खरी 'छबीली होति' को तो प्रकाश की उचित व्यवस्था द्वारा ही दिखाया जा सकता है। उसी तरह दूसरे दोहे में 'अध अँखियन अधखुलित' को तो रेखाओं मे आँका जा सकता है पर लखि लखि अँखियन अधखुलित को नहीं। इसमें सभी भंगिमाएँ रेखाओं में नहीं अंकित की जा सकती। एक को पकड़ने में दूसरे को छोड़ना पड़ेगा। दोनों चित्र काफी मनोरम हैं। तीसरे चित्र में रेखाएँ कम हैं पर द्वितीय पंक्ति प्रभावोत्पादकता में प्रथम दो चित्रों का अतिक्रमण कर जाती है। इसके अनुभावों में मानसिक प्रतिक्रियाओं का अत्यंत कौशल से अंकित कर दिया गया है जो पाठकों को सहज ही संवेदना पूर्ण बना देता है। 'खलित बचन' और 'लखि लखि अँखियन' द्वारा

उल्लिखित चित्र अपने आप में पूर्ण हैं पर वे किसी विशेष मानसिक भाव को उद्दीप्त नहीं करते इसलिए वे पाठकों को अनुभूति मग्न बना पाने में असमर्थ हो जाते हैं। दोहा सं० १–२ में मात्र भौतिक या शारीरिक तत्त्वों के अनुपम में संघटित किया गया है। मनुष्य भावजीवी प्राणी है उसे केवल भौतिक तत्त्वों में ही संतोष नहीं होता। वह भावजगत और अध्यात्म जगत की भी खोज करता है।

कलात्मक सर्जना में संवेदना (feeling) का सर्वाधिक महत्त्व है। कला में इसकी अभिव्यक्ति दुहरी होती है—संवेदना किसी वस्तु विशेष के लिए होती है और एक विशेष प्रकार की होती है। दूसरे शब्दों में इसका आविर्भाव किसी प्राणि विशेष के संबंध में होता है और वैसा होने पर हम एक विशेष प्रकार की मनोदशा में पहुँच जाते हैं। यह संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं में भिन्न होती है। संवेदना की भाँति ही संवेगों का संबंध भी बाह्य जगत से होता है। पर दोनों का मुख्य अंतर यह है कि एक में निजीपन (व्यक्तित्व) का अधिक से अधिक परिहार दिखाई पड़ता है तो दूसरी में निजीपन या व्यक्तित्व का संयोग। एक में बाह्य जगत के संबंध में आने पर जो प्रतिक्रिया होती है वह व्यापक और सार्वजनीन होती है जब कि दूसरे में वह बहुत कुछ सीमित और निजी होती है। इसलिए संवेग में एक आवेगमयता होती है जो संवेदना में नहीं दिखाई पड़ती। पर उसमें संवेदना की गंभीरता और मर्मस्पर्शिता उतनी नहीं आ पाती। पहली को क्लासिकल और दूसरी को रोमैंटिक कविता कह सकते हैं।

बिहारी क्लासिकल कवि हैं। उनकी अनुभूतियाँ संवेदनात्मक हैं। यह विशेषता उनके उपर्युक्त चित्रों में देखी जा सकती है। यह दूसरी बात है कि किसी में अनुभूति अधिक मात्र हो उठी है किसी में कम। यह मात्रान्तर कविता में गत्व से ही परिलक्षित होता है। इस मात्रान्तर का विवेचन करने के लिए फिर पीछे लौटना पड़ेगा। दो० सं० ३ सं० १–२ की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म व्यंजक और प्रभावोत्पादक है। इसके उत्तर में भी कहना होगा कि उसमें अभिव्यक्त अनुभूति का संबंध जिस बाह्य जगत से है वह अधिक वास्तविक है और उन दोनों का अंतरमर्मस्पर्शीकरण इस ढंग से किया गया है कि पाठकों की चेतना उद्बुद्ध हो उठती है। प्रिय के भावी मिलन की कल्पना मात्र से—अभी वास्तविक मिलन नहीं हुआ है—जो सात्त्विक अनुभाव उत्पन्न होते हैं वे सभी प्रमुख मनोभावों को व्यक्त कर देते हैं। ये अनुभाव ही चित्र

कि रंग रेखा है और वे इतने सक्षम हैं कि पाठकों में तुरंत अनुकूल वेदनीय अनुभूति उत्पन्न कर देते हैं। कुछ लोगों की दृष्टि में इसमें 'कंजनयनि'' की अपेक्षा अनुभूति का सूक्ष्मतर स्तर आकलित हुआ है।

मेरी दृष्टि में 'कंजनयनि' में संबद्ध चित्र उससे अधिक प्रभावोत्पादन क्षमता रखता है। केवल अनुभाव-विधान से ही चित्र की श्रेष्ठता नहीं स्वीकार की जा सकती। चित्रों की उत्कृष्टता चित्र होने में नहीं है क्योंकि चित्र साधन हैं साध्य नहीं। साधन के रूप में उनकी सफलता-असफलता का निरूपण किया जा सकता है। चित्रों के माध्यम से अनेक अनुकूल-प्रतिकूल भावों को—प्रभावपूर्ण ढंग से अंकित किया जा सकता है। कवि जितने ही सूक्ष्म और जटिल भावों को संतुलित कर सकेगा चित्र उतना ही काम्यो पम और श्रेष्ठ होगा। 'कंजनयनि' दोहे में एक विशेष मुद्रा में नायिका का नायक को देखना चित्र की अनेक भावनाओं को—आशा-निराशा राग-विराग चिंता उत्सुकता उत्कंठा—को कुरेद देता है जो उक्त दोहे द्वारा संभव नहीं है।

बिहारी के इस प्रसिद्ध दोहे को भी देखें—

> कहा लड़ैते दृग करे परे लाल बेहाल।
> कहुँ मुरली, कहुँ पीतपट, कहूँ मुकुट, बनमाल॥

यह मात्र अस्तव्यस्तता का चित्र नहीं है—आँखों की प्रभावोत्पादकता की अनुभूत्यात्मक सक्षमता का चित्र है नायक की प्रेम-विह्वलता का चित्र है। प्रेम विह्वलता का यह आतिशय्य आँखों के सौंदर्य और प्रभाव का सूचक है।

चित्रों में जहाँ सांकेतिकता कम और अभिधेयात्मकता अधिक हो गई है वे चित्र प्रायः निष्प्रभ हो गए हैं—

> भौंह उचै आँचरु उलटि, मौर मोरि मुँह मोरि।
> नीठि नीठि भीतर गई दीठि दीठि सौं जोरि॥

कवि भावों को समृद्ध करने के लिए रंगों का प्रयोग करता है। रंगों के उपयोग से चित्र की व्यंजकता भी बढ़ जाती है। वह प्रकृति में बिखरे हुए

वर्ण-चित्र

नाना रंगों में से अपने अनुकूल रंगों का चयन करता है। कभी वह अनुरूप वर्ण-योजना से नायिका के सौंदर्य को आकर्षक बना देता है, तो कभी विविध रंगों के आनुपातिक मिश्रण से सौंदर्य को उभार देता है। कभी वह प्रतिकूल

र्णों को सामने लाकर प्रिय के सौंदर्य को अनोखा बनाता है तो कभी वर्ण परिवर्तन से उसकी मानसिक-स्थिति का भावात्मक बोध कराता है। (इस प्रकार के वर्ण-चित्रों के निर्माण में बिहारी और देव अद्वितीय हैं।)

अनुरूप वर्ण-योजना के अन्तर्गत वे चित्र आते हैं जिनमें बहुत कुछ अनुरूप वर्ण-योजना मिलते-जुलते रंगों (मैचिंग कलर्स) का प्रयोग इस ढंग से होता है कि सौंदर्य में नवीन आकर्षण आ जाता है—

> भई जु छबि तन बसन मिलि बरनि सकै सु न बैन।
> आँग ओप आँगी दुरी, आँगी आँग-दुरै न॥

नायिका चंपई अँगिया पहने हुए है। उसके शरीर के रंग से कपड़े का रंग ऐसा मिल गया है कि कपड़ा लक्षित नहीं होता। अंग की चमक में अँगिया छिप गई है किन्तु अँगिया में अंग नहीं छिपता। अतः इस समय नायक को नायिका की अद्भुत छवि दिखाई पड़ेगी। नायिका की जिस अद्भुत छवि की व्यंजना इस दोहे से होती है वह चमत्कारिक होने के साथ-साथ रीति कालीन सामन्तीय मनोवृत्ति के नितान्त अनुकूल है।

वर्णों के मिश्रण में कवि को दुहरे दायित्व का निर्वाह करना पड़ता है। एक ओर उसे चित्र विषय के लिए अनुकूल रंगों का चुनाव करना होता है और दूसरी ओर रंगों के आनुपातिक मिश्रण पर ध्यान देना पड़ता है। बिहारी और देव में विभिन्न रंगों के मिश्रण की कला विशेष रूप से दिखाई देती है। इनमें भी रंगों की छायाओं (शेड्स आफ कलर्स) की अद्भुत पकड़ में बिहारी की दृष्टि अचूक है।

वर्णों का मिश्रण

बिहारी के रंग परिज्ञान तथा उचित रंगों के मेल की क्षमता 'सतसई' के पहले दोहे से ही परिलक्षित होने लगती है। इस दोहे में राधिका की शोभा सौन्दर्य और अंगद्युति को उभार कर सामने रखना ही कवि का मुख्य प्रयोजन है। इसी तरह कई रंगों के मेल से बाँसुरी की इन्द्रधनुषी शोभा देखिए—

> अधर धरत हरि कै परत ओठ डीठि पट जोति।
> हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष दुति होति॥

वयःसन्धि की अवस्था को बिहारी ने धूप-छाँह के रूप में देखा है—

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबन अंग।
दीपति देह दुहून मिलि, दिपत ताफता रंग॥

धूप-छाँह के रंग-संकेत से वय:सन्धि की शोभा कितनी भावपूर्ण हो गई है।

विरोधी रंगों की योजना से भावात्मक चित्रों के उरेहने का प्रयास पूरे विरोधी वर्ण-योजना रीतिकाल में कम मिलेगा किन्तु बिहारी ने इस ढंग से भी नायिका की छवि का भावपूर्ण अंकन किया है—

कुच्यो कढ़ीको मुकतसी, नीके झाँवर चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै, कालिंदी के नीर॥
× × ×
सोन जुही सी जगमगी अँग अँग जोबन जोति।
सुरँग कसुँभी चूनरी दुरँग देह दुति होति॥

प्रथम दोहे में नीले और श्वेत रंग का विरोध है और दूसरे में पीले और लाल का। एक में उत्प्रेक्षा-वस्तूत्प्रेक्षा और दूसरे में पूर्णालंकार द्वारा चित्र को खूब अच्छी तरह निखार दिया गया है। पहले में स्थानापन्न पक्ष मुख्य है दूसरे में सम्पूर्ण अंग की कांति। इस तरह नायिका की जगर-मगर करती हुई अंग ज्योति उसके सम्पूर्ण सौन्दर्य का प्रतिभासित कर जाती है।

जहाँ केवल चमत्कार प्रदर्शन की दृष्टि से बिहारी ने रंगों का प्रयोग किया है वहाँ चित्र काव्योत्कर्षक्षम नहीं बन पड़े हैं—

जटित नीलमनि जगमगति सींक सुहाई नाँक।
मनौ अली चंपक-कली बसि रसु लेतु निसाँक॥

नायिका की शोभायुक्त नाक में नीलम-जड़ी सींक जगमगा रही है मानो भौंरा निःशंक भाव से चंपे की कली पर बैठा रस ले रहा है। इसमें नील-पीत रंगों के विरोध से नायिका की शोभा वर्णित है। पर इससे कोई भावचित्र नहीं उभर पाता।

वर्ण-परिवर्तन मन-स्थितियों का प्रकाशक सहज कायिक व्यापार है। किन्हीं मर्मस्पर्शी बाह्य घटना का प्रभाव हमारे ऊपर ऐसा पड़ता है कि उससे चेहरे का रंग तत्काल बदल जाता है। कभी वह लाल हो जाता है तो कभी पीला कभी सफेद हो जाता है तो कभी काला। यह परिवर्तन इतना सहज और आकस्मिक होता है कि उससे घटना-विषय का संबंध जान लेने में कोई

वर्ण-परिवर्तन

कठिनाई नहीं पड़ती। मानसिक व्यापारों का शरीर से गहरा संबंध है। मानसिक व्यापार शरीर पर गहरे प्रभाव छोड़ जाते हैं। प्रेम-प्रसंगों में जो रंग आता है वह भाव होता है। इस ललाई की व्यंजना अनुभावों के अंतर्गत होनी चाहिए। पश्चिम के कवियों ने चेहरे की लज्जा जन्य-ललाई का प्रचुर वर्णन किया है। रीति-बद्ध कवि प्राय गिने-गिनाए अनुभावों के अनुदित बनकर समाप्त रहे। फिर भी उनमें वर्णपरिवर्तन के कुछ अच्छे उदाहरण मिल जाते हैं।

बिहारी की नायिका का वर्ण-परिवर्तन देखिए—

पहिरत हीं गोरे गरें, यौं दौरी दुति लाल।
मनौ परसि पुलकित भई, मौलसिरी की माल॥

नायक ने मौलसिरी की माला सखी द्वारा नायिका के पास भेजी है। सखी नायिका को माला पहना कर आई है और वह नायक से नायिका की दशा का वर्णन करती है। गोरे गले में माला पहनते ही वह लज्जा से लाल हो गई। यह ललाई उसकी प्रेमानुभूति की द्योतक है।

लज्जा के कारण लाल होने का एक अत्यन्त सुन्दर चित्र देखिए—

ज्यों ज्यों परसत लाल तन, त्यों त्यों राखत गोय।
नवल वधू डर लाजतें, इन्द्र वधू सी होय॥
—मतिराम

नायिका नवोढ़ा है। नायक ज्यों-ज्यों उसके शरीर का स्पर्श करता जाता है त्यों-त्यों वह संकुचित होती जाती है। वह डर और लज्जा के कारण इंद्र वधू के सदृश बन जाती है। 'इन्द्र-वधू' को छू दीजिए कि वह छुई-मुई हुई। उसका लाल रंग नायिका की लज्जा को प्रकट करने में पूर्ण समर्थ है। 'इन्द्र वधू' स्वयं वस्तुगत उत्प्रेक्षित चित्र योजना का अनुपम नमूना है। इसके माध्यम से लज्जा के समग्र व्यापार चित्रित हो उठते हैं।

शरीर के रंग (गोराई) से नायिका की माला का रंग छिप गया है। पर सजातीयता होने के कारण उसे इसका पता नहीं चलता। इस वर्ण परिवर्तन का अनूठा नयनाभिराम चित्र 'बेनी प्रवीन' ने खींचा है—

आवत गूँथि बना की सी मैं गजमोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहाँ है इहाँ तुमराज की, संग गई जमुना तट बाला॥

न्हात उतारी ही 'बेनी प्रबीन' हँसी सुनि बैन मैन रसाला।
जानत ना अंग की बदली, सब सों बदली बदली कै माला॥

नायिका के गले में जो गजमोतियों की माला पड़ी थी उसका रंग बदल गया है। इस पर वह बेहद हैरान है– बाला को भ्रम है कि मैंने अभी कल ही तो गजमोतियों की एक सुन्दर माला पहनी थी किन्तु यह पुखराज की माला कहाँ से आ गई? कहीं यमुना-तट पर स्नान करते समय किसी की माला से यह बदल तो नहीं गई। उस बेचारी मुग्धा को क्या पता कि शरीर की पीताभ छाया के कारण गजमुक्ताओं की श्वेत माला का रंग कुछ इस प्रकार बदल गया है कि उसमें पुखराज मणियों की माला की भ्रांति होती है।

बिहारी के उपर्युक्त दोहे में कोई दूती नायक से नायिका की प्रेमानुभूति का चित्र खींचकर नायक के मन की ललक को और भी अधिक बढ़ा देने का उपक्रम कर रही है। मतिराम के दोहे में नायिका की विशेष परिस्थिति में डालकर उसे छुई-मुई होती हुई दिखाने का अभिप्राय उसके प्रति नायक के आकर्षण को और भी तीव्र बना देना है। बेनी प्रबीन का वर्ण-परिवर्तन द्वारा नायिका के सौन्दर्य अंकन का प्रयास उससे भिन्न नहीं है। सभी वर्ण-योजनाओं द्वारा नायिकाओं के ऐश्वर्य-दीप्त आकर्षक और उन्मादक सौन्दर्य को प्रस्तुत किया गया है जो एक ओर साहित्यिक परंपरा से अनुमोदित था तो दूसरी ओर तत्कालीन सामंतीय परंपरा से समर्थित।

पश्चिमी साहित्यालोचन में उपलक्षित चित्र-योजना (Imagery) की काफी चर्चा हुई है। इसके सम्बन्ध में कई सैद्धांतिक ग्रंथों का प्रणयन किया गया तथा कतिपय कवि एवं नाटककारों की व्यावहारिक उपलक्षित चित्र-योजना आलोचना भी की गई। कवियों की अनुभूत्यात्मक गहराई की परख के लिए उपलक्षित चित्र-योजना का विश्लेषण आवश्यक है।

उपलक्षित चित्र योजना आलंकारिक (Figurative) होती है। पश्चिमी विचारकों ने इसके लिए रूपक को सर्वाधिक महत्त्व दिया है।[1] रूपक के रूप

1—Metaphors belong to effects of style for which the common language of literary criticism reserves the term Imagery and they are of an importance for poetry that one can scarcely overestimate

—Ronald Peacock The Art of Drama; P P 44.

न लाए गए अप्रस्तुतों में जो स्पष्टता, अभिव्यंजना और अर्थ-विस्तार दिखाई पड़ता है वह अन्य प्रकार से लाए गए अप्रस्तुतों में नहीं। जहाँ तक साम्य-गत सौन्दर्य का प्रश्न है अन्य अलंकारों के माध्यम से लाए गए अप्रस्तुत भी अपनी जगह विशेष उपयोगिता रखते हैं।[1] पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर रूपक की जो निजी विशेषताएँ हैं उनकी ओर से आँखें नहीं मूँदी जा सकती। उपमा आदि अलंकारों में भेद की एक स्पष्ट सीमा होती है पर रूपक में भेद की सीमा विलुप्त होने के साथ-साथ कभी-कभी प्रतीकात्मक भी हो उठती है। उपमा और रूपक के एक-एक उदाहरण लीजिए—'उसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' (उपमा) 'वह चाँद है' (रूपक)। उपमा में मुख के लिए लाया गया चन्द्रमा अप्रस्तुत है। इस अप्रस्तुत द्वारा मात्र सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हो पाती है। किन्तु रूपक के उदाहरण में चेहरे की कोमलता निर्मलता मधुरता शीतलता आदि अनेक गुणों का समन्वय देखा जा सकता है। उपमा में जो अप्रस्तुत से लाया जाता है उसका अर्थ सीमित और रूपगत अप्रस्तुत का व्यापक होता है। इस अप्रस्तुत के अनेकात्मक रूपों से हम पूर्व परिचित रहते हैं इसके साक्षात्कार मात्र से स्मृति के रूप में संचित समन्वित अर्थ स्वयं प्रकाशित हो उठता है।

रूपक मुख्यतः दो काम करता है। एक तो वह पाठकों की ऐन्द्रियानुभूति (sensational experience) को जागृत करता है दूसरे एक विचार को रूपायित करता है। रूपकात्मक अभिव्यक्ति का महत्त्वपूर्ण काम है रूपात्मक भावों और विचारों का ऐन्द्रियानुभूति की सीमा में आने वाले अप्रस्तुतों से संबद्ध करना। इसके साथ ही वह प्रतीक की सीमा का भी स्पर्श करता रहता है। अन्य अलंकारों की अपेक्षा यह अधिकतर सम्बन्धों का प्रकाशक है।

साम्यात्मक संगुम्फन के लिए आवश्यक है कि इसके लिए जो अप्रस्तुत चुने जायें उनका चुनाव परिचित जगत से हो तथा वे पाठकों की संवेदनाओं को आन्दोलित करने में पूर्ण समर्थ हों। दूसरे वे एक अनुपातात्मक (proportional) क्रम संकेतित करते हों। पर इसकी पूर्ण सफलता इनमें से किसी एक में न होकर उनके सम्बन्धों में निहित है।

किन्तु यहीं पर यह स्पष्ट करना शेष रह गया कि रूपकात्मक तथा साम्यात्मक संगुम्फन में क्या स्पष्ट अन्तर है। वास्तव में संगुम्फन रूपक मात्र न

१—दे० बच्चन सिंह की रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना

होकर रूपकात्मक (Metaphorical) होता है। यह अंशों में प्रतीकवत् तथा अंशों में संवेदनात्मक होता है। इसमें पदार्थ विशेष का उतना महत्त्व नहीं है जितना उसके द्वारा आविर्भूत संवेदना का।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त अप्रस्तुतों को ही संमूर्तनक्षम क्यों माना जाय ? उपमा-उत्प्रेक्षागत अप्रस्तुत भी तो संमूर्तन प्रस्तुत करते हैं और वे पर्याप्त रस-क्षम भी होते हैं। यह कहना कि प्रतीकवत् प्रयुक्त अप्रस्तुत सर्वाधिक काव्योपम होते हैं बहुत कुछ ठीक है किन्तु यह कि वे ही सच्चे काव्य की कसौटी हैं सर्वथा भ्रामक है। विशेष स्थिति (situation) और परिस्थिति (circumstance) अन्य काव्यात्मक स्थल बिना किसी अप्रस्तुत-विधान के भी रसोद्‌बोधन करते हैं। तब प्रतीकवत् व्यवहृत अप्रस्तुत (इमेजरी) को उत्कृष्ट काव्य की कसौटी क्यों स्वीकार किया जाय ? योरोप में जिस समूर्तन बिंब या इमेजरी पर बहुत जोर दिया गया है उसका समावेश हमारे यहाँ के सादृश्य-मूलक अलंकारों में कर लिया जा सकता है। इस लिए उपलक्षित बिंब-योजना का पृथक विचार न करके उस अलंकारों के भीतर गृहीत कर लेना औचित्य-पूर्ण मालूम पड़ता है।

अलंकार-योजना

संस्कृत-आलंकारिकों ने रस को काव्य की आत्मा माना है काव्य के शेष उपकरण इसी के पोषक हैं। इन्हीं ने अलंकार को काव्य का शोभाकरधर्म माना है। अलंकार का शब्दार्थ भी यही संकेतित करता है। वामन का कथन 'सौन्दर्यमलंकारः' विशेष महत्त्व रखता है। अलंकार ही सौन्दर्य है का तात्पर्य यही है जो पश्चिम के सौन्दर्य शास्त्रियों का। वे भावानुभूति और अभिव्यक्ति में भेद नहीं करते। वामन का अलंकार रूप का बोधक है और सौन्दर्य भावानुभूति का।

ऐसी स्थिति में अलंकार-योजना के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। 'रससमाहितचेता' कवि जब अपने मन को रस-केन्द्रित करता है तो अलंकारों का औचित्यपूर्ण विन्यास अपने आप हो जाता है। आनन्दवर्धन ने कहा है—'तद् (रस) प्रकाशिनो वाच्य विशेषा एव रूपकादयोऽलङ्कारा'? रूपकादि अलंकार रस के प्रकाशक हैं। यह तभी सम्भव है जब वे अंगीभूत (structural) रूप में प्रयुक्त हों। सम्भवतः इसी तथ्य को लक्ष्य करते हुए अभिनव ने उन्हें 'रसाक्षिप्त' और 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' कहा है।

कवि अपने भावों और विचारों को पाठकों तक प्रेषणीय बनाता है। भावों और विचारों को पाठकों तक सफल प्रेषित करने के लिए उसे अपनी वाणी को असामान्य बनाना पड़ता है अथवा एक विशेष स्थिति में उसकी वाणी चमत्कारपूर्ण हो जाती है। ऐसा होने पर कवि के भाव और अनुभूति दोनों रागात्मक होकर पाठकों या श्रोताओं के हृदय में भी समान भाव या अनुभूति जागृत करते हैं। अलंकार इस क्रिया में सहायक सिद्ध होता है। रेमंड का विचार भी बहुत कुछ इससे मिलता-जुलता है— The one truth underlying all the rules laid down for the employment of figures is that nothing is gained by any use of those which do not add to the effect of the thought to which they give expression.

अतएव यह कहा जा सकता है कि (अलंकार वस्तु और भाव को स्पष्ट और रागबोधात्मक बनाता है। जहाँ उसकी प्रधानता हो जाती है वहाँ उसकी रागबोधात्मकता समाप्त हो जाती है क्योंकि वह साधन (factor) नहीं हो पाता।) अलंकार को सामान्यतः तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है— सादृश्यमूलक, विरोधमूलक तथा साहचर्य (association) मूलक। इनमें सादृश्यमूलक अलंकार ही बिंब या मूर्तता की स्थापना कर सकते हैं। शेष अलंकार मुख्यतः चमत्कारविधायक होते हैं।

सादृश्य मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं—रूप-सादृश्य, धर्म-सादृश्य और प्रभाव-सादृश्य। कहीं-कहीं इन्हें अलग-अलग रूप में देखा जाता है तो कहीं-कहीं सम्मिलित रूप में। रूप बाह्याकार है तो धर्म और प्रभाव अन्तरंग की विशेषताएँ हैं। केवल रूपाकार को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त अप्रस्तुत भावात्मक नहीं होते। जैसे सिंह के समान कमर। श्रेष्ठ अप्रस्तुत वे ही हैं जो प्रस्तुत के रूप, धर्म तथा प्रभाव से सादृश्य रखते हों।

✓ सादृश्यमूलक

वस्तुतः प्रस्तुत को स्थापित करने के लिए जिन अप्रस्तुतों का प्रयोग किया जाता है वे हूबहू प्रस्तुत के समान नहीं होते। वे किन्हीं अंशों में प्रस्तुत के सदृश होते हैं पर अपनी बिंबविधायिनी शक्ति के द्वारा उसे व्याख्या प्रदान करते हैं। उपमागत अप्रस्तुत रूपकगत अप्रस्तुत की अपेक्षा कम संवेगात्मक होता है। रूपक में चमत्कार-क्षमता अधिक होती है। एक ही अप्रस्तुत का

प्रयोग तीनों अलंकारों में किया जा सकता है पर उसकी अर्थगत सघनता में अन्तर आ जाता है।

पहले उपमागत कुछ अप्रस्तुतों के उदाहरण देखिए—

(१) लहलहाति तन तरुनई लचि लगि लौं लफि जाय।

(२) कौंडि सी कसकति हिये गड़ी कटीली भौंह।

(३) बाढ़ी तन अरुनाति यह छिबलसुमा लौं दीठि।

(४) सटपटाति सी ससिमुखी मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै गई झरोखै झाँकि॥

(५) बीचोंमें मोची बिपट डीठि कुही लौं दौरि।

(६) कौहर सी एड़ीन की लाली निरखि सुभाय।

(७) सहज सेत पचतोरिया पहिरें अति छबि होति।
जल चादर के दीप लौं जगमगाति तन जोति॥

(८) जाके तन की छाँह ढिग जोन्ह छाँह सी होति।

(९) हरि-छबि जल जब ते परे तबतैं छिन बिछुरैं न।
भरत ढरत बूड़त तिरत रहँट घरी लौं नैन॥

(१०) बाल छबीली तियनु में बैठी आपु छिपाय।
अरगट हीं फानूस सी परगट परै लखाय॥

(११) मिस बिन झाड़ी सी फिरति बाढ़ी गाढ़ी पीर।

(१२) नारि सलोनी साँवरी नागिन लौं डसि जाय।

(१३) भेद दुरावत सौंह की निरखि निसा सी नारि।

उपर्युक्त सभी अप्रस्तुतों में से अधिकांश नए हैं। इनके नएपन के कारण कोई चाहे तो इन्हें ताजा कह सकता है। पर ताजगी प्रस्तुतकरण की विशेषता है वैचित्र्य की नहीं। इधर-उधर की चुनाई हुई अद्भुत वस्तुओं में एक अजनबी पन (strangeness) पाया जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि वे ताजगी पूर्ण भी हों। यहाँ पर कवि की दृष्टि अजनबीपन पर ही अधिक टिकी हुई है।

तारुण्यभार से दूना होती हुई नायिका और लगी के लफ जाने में जो धर्म-साम्य है वह स्थूल ही कहा जायगा। फिर भी इससे एक ऐन्द्रिय

बिंब उपस्थापित हो जाता है। दूसरे उदाहरण का अप्रस्तुत कोई संश्लिष्टात्मक बिंब नहीं निर्मित कर पाता। ६, ९, ११, १२, १३ के अप्रस्तुत रागबोधात्मक क्षमता से सर्वथा रिक्त हैं। 'चित्रमनुमा' और 'बुर्जी' आदि के जिस पक्ष का सादृश्य प्रस्तुत करते हैं वह वस्त्वात्मक है, भावात्मक नहीं। गाने-बजाने वाला व्यवसायी (ढाढ़ी) जो स्वस्थान घूमता फिरता है वह नारी पीर में व्याकुल नायिका का परिदृश्य बिंब कम उभार सकता है। अप्रस्तुत केवल उसका घूमना स्थापित कर पाता है, नारी पीर का चित्रित करने की क्षमता उसमें नहीं। यहाँ पर तो प्रस्तुत और अप्रस्तुत का कोई मानसिक सम्बन्ध स्थापन भी नहीं हो पाता। एक ही दोहे में कई चमत्कारों के निर्वाह की स्पृहा अप्रस्तुतों की बिंब-विधायिनी शक्ति को चौपट कर रही है। कहाँ नींद और कहाँ स्नेह, कहाँ निशा कहाँ नारी—इनमें तो कोई सादृश्य ही नहीं है।

चौथे, सातवें और आठवें उदाहरणों के अप्रस्तुत अपनी रागबोधात्मक क्षमता के कारण भावोत्पादक बिंब निर्मित करते हैं। झरोखे में नायिका का झाँक कर हट जाना अग्नि की लपट सा मालूम पड़ा। इस अप्रस्तुत में रूप, रंग और प्रभाव तीनों का साम्य है। इसलिए यह सर्वाधिक उत्कृष्ट बिंब बन पड़ा है। गौरांग नायिका के रूप लावण्य की एक झलक को उभारने में 'पावक-झर' वास्तविक रूप से समर्थ है। आग की लपट का धर्म है पार्श्ववर्ती व्यक्ति को परितप्त कर देना। नायिका का झाँकना नायक को विरह-व्यथा से पूर्ण बना देता है। यह अप्रस्तुत नायिका की रूप चेतना को पाठकों के मन में अच्छी तरह उभार ही नहीं देता बल्कि उन्हें भी रागानुभूत कर देता है। गौरवर्णी नायिका और पावक झर का साम्य प्रस्तुत करते समय कवि 'रससमाहितमन' कहा जा सकता है। जल-चादर का दीप भी श्वेत साड़ी के भीतर से झाँकती हुई नायिका की सर्वांग अंग-ज्योति की रागात्मक कल्पना अच्छी तरह चित्रित करता है। रहँट घरी अपने पूर्ण संदर्भ में समर्थ अप्रस्तुत है।

स्थानगत अप्रस्तुतों के चुनाव और प्रयोग में बिहारी सब से अधिक असमर्थ सिद्ध हुए हैं —

(१) जब जागति तन मुकुर करि जोबन जामिक जौर ।
घरि घरि दै करि करि रहम, करी घौर की घौर ॥

(२) औंधा आँसू बूँद, कसि साँकर बरुनी सजल ।
कीने बदन निमूद, दृग मलंग डारे रहत ॥

(३) बेई गड़ि गाड़ैं परी, उपट्यो हार हियैं न।
आन्यो मोरि मतंग मनु मारि गुरेरन मैन॥

(४) मंगल बिंदु सुरंग मुख ससि केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत॥

ये समस्त उदाहरण पांडित्य-प्रदर्शन के द्योतक हैं। इनके अप्रस्तुत इतने अधिक हैं कि उन पर टिप्पणी व्यर्थ है। इस अधिकता की व्याख्या भावे की सामग्री।

उत्प्रेक्षागत अप्रस्तुत कवि-कल्पित होने के कारण अधिक चामत्कारिक होते हैं पर उनकी सिद्धता इसी में है कि वे बराबर साम्य बोधात्मक हों। यह अलंकार रीति-कवियों का बड़ा ही लाड़ला अलंकार रहा है क्योंकि इसके माध्यम से नायक-नायिका के उपभोग की संभावना में उन्हें पर्याप्त छूट मिल जाती है। इसका अप्रस्तुत लोक-प्रसिद्ध होता है। लोक-सिद्ध होने पर वह उपमा के अन्तर्गत आ जायगा। लोक-प्रसिद्ध उपमान का चामत्कारिक होना स्वाभाविक है। पर केवल लोक-प्रसिद्ध होने के कारण कोई अप्रस्तुत चमत्कारक हो जाय यह आवश्यक नहीं है। उलटे उसे पहेलीपरक हो जाने का खतरा बढ़ जाता है। पहले बिहारी की इस तरह की उत्प्रेक्षाएँ देखिए—

(१) भाल-लाल बेंदी छए छुटे बार छबि देत।
गह्यौ राहु अति आहु करि मनु ससि सूर समेत॥

(२) नीके लसत ललार पर टीको जटित जराव।
छबिहि बढ़ावत रवि मनो ससि मंडल में आय॥

(३) तिय-मुख लखि हीरा-जरी, बेंदी बढ़ै बिनोद।
सुत सनेह मानौ लियौ, बिधु पूरन बुध गोद॥

पहले दोहे में राहु का सूर्य और चन्द्रमा को एक साथ ही ग्रस लेना लोक में प्रसिद्ध है। पर इससे नायिका के भाल बिंदी और उन्मुक्त केशराशि का कोई बिंब नहीं उपस्थित हो पाता। यही बात दूसरे और तीसरे दोहे की उत्प्रेक्षाओं के संबंध में भी कही जा सकती है। ज्योतिष के पारिभाषिक अप्रस्तुत सामान्य जीवन से असंपृक्त होने के कारण पहेली बन जाते हैं।

किन्तु बिहारी की बहुत सी उत्प्रेक्षाएँ ऐसी भी हैं जो काव्य के अत्यन्त मनोरम चित्र भी प्रस्तुत करती हैं। कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(१) पग पग मग अगमन परत चरन अरुन दुति झूलि।
ठौर ठौर लखियत उठे दुपहरिया से फूलि॥

(२) भरी कोर मीड़ें बदन बड़ी भरी छबि देतु।
लसति मनौ बिजुरी किए सारद ससि परिबेषु॥

(३) सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात।
मनौ नीलमनि सैल पर आतप परयौ प्रभात॥

दुपहरिया के फूल का फूलना लोक-सिद्ध है पर ठौर-ठौर पर उसका फूल उठना लोक-प्रसिद्ध माना जा सकता है। यहाँ पर जो धर्म-साम्य प्रस्तुत किया गया है वह पाठकों की रागोत्तेजना में पर्याप्त सहायक सिद्ध होता है। बिजली के परिवेष से अभिमंडित शरद-चन्द्र लोक-सिद्ध नहीं है इसलिए यह उत्प्रेक्षागत अप्रस्तुत है। यह कवि-कल्पित अप्रस्तुत जरीदार साड़ी में शोभित नायिका की मुख-शोभा को इस ढंग से अंकित करता है कि उसमें पाठकों की रूप-चेतना तीव्रतर हो उठती है।

इनके अतिरिक्त कवियों ने इस आदि समाकर भी उत्प्रेक्षाएँ की हैं, जैसे—

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट पट झीन।
मानहु सुरसरिता बिमल जल उछरत जुग मीन॥

पर गंगा के विमल जल में युगमीन का उछलना लोक-सिद्ध है। इसलिए सही अर्थ में इसे उत्प्रेक्षा का विषय नहीं माना जा सकता। यों अपने आपमें भी यह अप्रस्तुत कोई खास संवेदनात्मक बिंब नहीं प्रस्तुत करता। कालिदास का एक बिंब देखिए जिसमें रुदित आँखों का अनिवार्य संवेदनात्मक रूप अंकित किया गया है—

रुद्धापांगप्रसरमलकै रंजनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शंके मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति॥

'हाय मित्र अब वे बिखरे बालों से अवरुद्ध कटाक्षवाले अनमाँजे नयन ऊपर की ओर फड़कने से उस सोमकमल की मोहिनी शोभा धारण करेंगे जो चंचल मछलियों के ऊधम से चंचल हो उठता है। अब मैं मीन-क्षोभ से

पटुल बने कुवलय (नीलकमल) की शोभा धारण करनेवाले नयनों की कल्पना करता हूँ तो जी में अजब कचोट अनुभव करता हूँ।[1]

इस अप्रस्तुत की बिम्ब-निर्माण-क्षमता इस बात पर निर्भर है कि वह कितनी गहरी संवेदना जागृत कर सका है। जब अप्रस्तुतों के मूल में गूढ़ संवेग (Complex emotions) रहते हैं तो वे बिम्ब-कल्पना को व्यापक और गहरा बना देते हैं।

विरोध मूलक

इसके अन्तर्गत विरोधाभास विभावना विशेषोक्ति अतिशयोक्ति आदि अलंकारों की गणना की जाती है। विरोधाभास में विरोध वास्तविक न होकर आभास मात्र होता है। कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति का कथन विभावना है। विशेषोक्ति विभावना का उलटा होता है अर्थात् यहाँ कारण के वर्तमान होने पर भी कार्य नहीं हो पाता। असंगति कार्य-कारण-विरोधमूलक अलंकार है—इसमें कारण कहीं होता है और कार्य कहीं। अतिशयोक्ति भी मूलतः विरोधमूलक अलंकार ही है।

अब 'सतसई' में प्रयुक्त कुछ उदाहरणों की परीक्षा कीजिए—

(१) तंत्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥

(२) करि रति सुख कामिनि गरें लगी लजौंही नीठि।
मुकुत न भौ मन बँधि रही औ अनमुखी पीठि॥

(३) या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रंग त्यौं त्यौं उज्जलु होइ॥
(विरोधाभास)

(४) रस सिंगार मंजनु किएँ कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हू बिना खंजनु गंजनु नैन॥

(५) अंग-अंग नग जगमगैं दीपसिखा सी देह।
दिया बढ़ाये हू रहै बड़ौ उज्यारौ गेह॥

१—डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी : मेघदूत एक पुरानी कहानी, पृ॰ १२१, १२८ से उद्धृत।

(६) सतर भौंह रूखे बचन करत कठिन मन नीठि।
कहा करौं ह्वै जाति हरि हेरि हँसौंही डीठि॥
(विभावना)

(७) जदपि चवाइनि चीकनी चलति चहूँ दिसि सैन।
तऊ न छाँड़त दुहुन के हँसी रसीले नैन॥

(८) निसि अँधियारी नीलपट पहिरि-चली पिय गेह।
कही दुराई क्यों दुरै, दीप-सिखा सी देह॥
लाल तुम्हारे बिरह की अगनि अनूप अपार।
सरसै बरसैं नीरहूँ झरहूँ मिटै न झार॥
(विशेषोक्ति)

(९) दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिऐं दई नई यह रीति॥

(१०) पिराके बाद मबोर दग कर पिचकी जब ओर।
रावन रँग लाली भई जित तित चोखन कोर॥
(असंगति)

(११) भृकुटि दुराई कुरति नहिं अगर अमित रति रूप।
छुटै पीक धौरै उठी लाली अधर अनूप॥
(अतिशयोक्ति)

कहना न होगा कि उपरिउद्धृत उदाहरणों में से अधिकांश बहुत ही मार्मिक और भावपूर्ण हैं। वास्तव में यही बिहारी का प्रकृत क्षेत्र भी माना जा सकता है। इन अलंकारों का भी मुख्य उद्देश्य है भाव या रस का उत्कर्ष होना। चमत्कारपूर्णता के साथ-साथ इनका 'रसाश्रित' होना भी आवश्यक है। इनमें वैदग्ध्य उस सीमा तक नहीं पहुँच पाया है जहाँ संवेदना-त्मकता से उसका साथ छूट जाता है। प्रत्येक अलंकार प्रत्येक संदर्भ में औचित्यपूर्ण नहीं माना जा सकता। उपमा और रूपक के प्रयोग में बिहारी को प्राय सफलता नहीं मिल पाई है किन्तु विरोधमूलक अलंकारों में उन्होंने पर्याप्त कुशलता का परिचय दिया है। बिहारी अपनी समसता के लिए प्रसिद्ध हैं। यह समसता शब्दों के प्रयोग, वाक्य तथा अलंकार-विन्यास में लक्षित दीख पड़ती है। उपमा और रूपक का सम्बन्ध संवेदना की जिस गहराई से है वह बिहारी में नहीं है। इसलिए चमत्कार के चक्कर में फँसे रहने के

कारण उनके प्रयोग में वे संवेदना से प्राय असंपृक्त हो गए हैं। विरोध-मूलक अलंकारों में उनको अपना स्वाभाविक क्षेत्र मिल गया।

लोक-कल्पना की सीमा में न आने वाली जिन ऊहाओं का आधार बिहारी ने अपनी अत्युक्तियों में लिया है वे एकदम संवेदना-विरहित हैं। कहीं-कहीं तो अत्युक्ति-चमत्कार की वे एकदम उपहासास्पद हो जाती हैं। रीतिकाल के चरम सीमा अनेक कवियों पर फारसी कविताओं का प्रभाव पड़ा है—उनकी अच्छाइयों और बुराइयों दोनों का। ये अत्युक्तियाँ उनके बुरे पक्ष 'मुबालगा' से आत्यंतिक रूप से प्रभावापन्न हैं।

उदाहरणार्थ—

(१) आरि बतावति सिसिर रितु सहि बिरहिनि तन ताप।
बसिबे कौं ग्रीषम दिननु परो परोसिन पाप॥
(२) आड़े दै आले बसन जाड़े हू की राति।
साहस ककै सनेह बस सखी सबै ढिग जाति॥
(३) औंधाई सीसी सु लखि बिरह बरति बिललात।
बिचहीं सूखि गुलाब गौ छींटौ छुई न गात॥

(अर्थालंकारों की भाँति यदि शब्दालंकार रस पोषक होकर आते हैं तो उनकी उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं है) डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "वस्तुतः शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही रस

शब्दालंकार

के उपयुक्त साधक भी बन सकते हैं और बाधक भी हो सकते हैं। परन्तु जिस काव्य में केवल शब्दालंकार ही झंकार उत्पन्न करता है अर्थ का भार कम होता है वह एक प्रकार की असामान्य-अनुभूतिजनक आवेग का कम्पन उत्पन्न करता है। न तो वह संगीत की प्रवाह गति उत्पन्न कर पाता है न अर्थ-जगत से सम्पूर्ण रूप से विच्छेद ही कर पाता है। उसके शब्द बराबर बाह्य सत्ता से श्रोता का सम्बन्ध स्थापित करते रहते हैं और स्वर के स्वच्छन्द प्रवाह में बाधा उत्पन्न करते रहते हैं। अर्थ भार-हीन शब्दालंकार न तो काव्य की गाढ़ अनुभूति ही पैदा करते हैं न संगीत का प्रवाह ही। वे दोनों के केवल घटिया प्रभाव ही उत्पन्न कर सकते हैं।" रीतिकाल के कवियों में शब्दालंकार का प्रयोग बहुत है पर अधिकतर वे काव्य के घटिया प्रभाव को उत्पन्न करके रह जाते हैं। अर्थ की

बाह्यमता से उसका जितना सम्बन्ध होता है उसका रमणीयता उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त नहीं होता[1]।

(शब्दालंकारों में मुख्यतः अनुप्रास श्लेष और यमक के प्रयोग बहुत हुए हैं।) रीतिकाल का कोई ऐसा कवि न मिलेगा जो अनुप्रासों के चमत्कार से घिरा हुआ न हो। कभी-कभी तो यह दो-दो तीन-तीन चरणों तक चलता रहता है। अनुप्रासों का अर्थ से कोई संबंध नहीं है। फिर भी रीति कवियों को इसकी क्रीड़ा कुछ ऐसी रुचिकर प्रतीत हुई कि वह उनकी शैली का अंग बन गया। बिहारी के कुछ उदाहरण देखिए—

सहित सनेह सकोच सुख स्वेद कंप मुसुकानि।

× × × ×

हरकि हार हरि हिय गई हौंस हिराई हाय।

(उनके प्रत्येक दोहा में अनुप्रास का चमत्कार दिखाई देगा। पर इस काल के अन्य कवियों की तुलना में बिहारी में संयम और सन्तुलन अधिक दिखाई देता है।)

श्लेष में चमत्कार के साथ ही अर्थभार भी उचित मात्रा में होता है। स्वाभावोक्ति को छोड़कर यह अन्य अलंकारों का सहायक होता है—श्लेषः पुष्णाति सर्वासु प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् (दण्डी)। अभिनव गुप्त का कहना है कि यह छाया-धर्म अलंकारों का उत्पादक सिद्ध होता है। वामन के मतानुसार (स्वच्छाश्लिष्टः) श्लेष को अश्लिष्ट होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि संयम पूर्ण ढंग से प्रयुक्त होने पर यह अलंकारों का सौन्दर्य विधायक होता है। पर यदि उसमें नाना अर्थ निकालने की चेष्टा उसको विकृत कर देगी। कीथ के मतानुसार आलंकारिकों और नाटककारों ने इसका अत्यधिक दुरुपयोग किया है। डा० राघवन् ने परवर्ती काल के पंडितों के सम्बन्ध में बताया है कि श्लिष्ट शब्द या पदों के बिना उनका लिखना असम्भव था। कभी उनके द्वारा हम दो विचारों में सादृश्य भी स्थापित कर पाते हैं और कभी कवियों की मौलिकता पर संतुष्ट हो जाते हैं और भाषा पर उनके अधिकार की दाद देने लगते हैं।[2]

१—हिन्दी साहित्य [illegible] पृ० ३३६

२—It became impossible for a latter-day scholar to write except in double entendre and if we take a work like Vedanta

(बिहारी ने यहाँ पर श्लेष का प्रयोग किसी उपमा-गर्भ अलंकार को पुष्ट करने के लिए किया है वहाँ पर तो यह उसका उपकारक सिद्ध हुआ है अन्यथा नहीं। कुछ उदाहरण देखिए—)

(१) जदपि सुन्दर सुघर पुनि सगुनौ दीपक देह।
तऊ प्रकास करै तितौ भरियै जितौ सनेह॥

(२) आवत जात न जानियत तेजहि तजि सियरान।
घरहिं-जँवाई लौं घट्यौ, खरौ पूस-दिन-मान॥

पहले उदाहरण में श्लेष से पुष्ट रूपक है दूसरे में पूर्णोपमा। पहले में 'सगुन' और सनेह' चमत्कारक होने के साथ-साथ रूपक के निर्वाह में पूर्ण योग देते हैं। दूसरे दोहे के 'मान' को भी पूर्णोपमा का उपकारक कहा जायगा। अब चमत्कार खड़ा करने वाले कुछ उदाहरण देखिए—

(१) अजौं तर्‌यौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक अंग।
नाक-बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतन के संग॥

(२) कुँजि कोप तजि रँगरली करति जुवति जग जोय।
पावस बात न गूढ़ यह बूझन हू रँग होय॥

पहले उदाहरण के श्लेष पर तो बिहारी की चामत्कारिकता की दाद दी जा सकती है। दूसरे उदाहरण में रंग का पर्याप्त सादृश्य प्रस्तुत किया गया है।

मुक्तक प्राय: प्रयत्न-साध्य होने के कारण कवि को रस-समाहित नहीं रहने देता। शृंगार रस में तो यह और भी अनुपयुक्त ठहरता है। पर (बिहारी ने इस अलंकार का भी प्रचुर प्रयोग किया है।)

---

depikas Subhasitavlvi we can rarely find there a verse which has not got two meanings. Sometimes we are able to set up similarity between both the Ideas and sometimes we are left to satisfy ourselves with the mere pleasure of originality and admire the author's command over the language"

—Dr. Raghavan, Some Concepts of Alankaras PP 77

रस कविता का प्राण है और अलंकार उसका पोषक। अलंकार का प्रयोजन भावानुभूति को साध्य बनाना है यही उसके कार्य की सीमा है। शब्दालंकार हो चाहे अर्थालंकार—दोनों साध्य हैं। काव्य-प्रक्रिया में वे सहज ही योग देते हैं इसीलिए उन्हें 'रसाक्षिप्त' और 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' कहा गया है। कवियों के रसोपासक होने का कारण बताते हुए महिमभट्ट ने कहा है—

विभोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न वस्तुवित्।
तद्धर्मेव कवयोऽलंकारानुपासते॥

१

व्यंजना और सतसई

शब्द-शक्तियों में व्यंजना का बहुत ही अधिक महत्त्व है क्योंकि ध्वनि की मूलाधार यही शक्ति है। पहले पहल रस की प्रतिष्ठा दृश्यकाव्य में हुई और रस-सिद्धान्त वहीं तक सीमित रहा। नाटक का मुख्य उद्देश्य विभावानुभाव आदि के द्वारा शृंगार-करुण रसादि की प्रतीति कराना था। इसके लिए आवश्यक था कि नाटक विस्तृति-सापेक्ष हो। प्रबंध-समन्वित श्रव्य-काव्य में भी विभावानुभावादि के द्वारा रस-पद्धति सुलभ है पर लघु काय मुक्तकों में रस के सभी अवयवों का सन्निवेश सम्भव नहीं है। अतएव उन्हें काव्य के अन्तर्गत नहीं परिगणित किया जा सकता। ध्वनि-सिद्धान्त रस-सिद्धान्त का ही विस्तार है। श्रव्य काव्य में इसी सिद्धान्त के द्वारा रस की प्रतिष्ठा हुई। वस्तुतः ध्वन्यालोक के पूर्व रस और काव्य का समुचित संबन्ध-स्थापन नहीं हो पाया था। लोचनकार ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। रस ध्वनित होता है इस बात को स्वीकार कर लेने पर चमत्कार-क्षम मुक्तकों में भी रसाभिव्यक्ति की स्थिति मान ली गई। तभी तो आनन्दवर्धन ने घोषणा की कि अमरुककवेरेक श्लोक प्रबन्ध शतायते।

ध्वनि का मुख्य प्रयोजन है—प्रतीयमान अर्थ प्रतीति और यह व्यंजना व्यापार द्वारा ही सम्भव है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि

व्यंग्य अर्थ ही प्रतीयमान अर्थ होता है। व्यंजना और व्यंग्य में वही सम्बन्ध है जो कारण और कार्य में। जहाँ ध्वनि होगी वहाँ व्यंग्यत्व होगा। पर प्रत्येक व्यंग्यार्थ को ध्वनि की संज्ञा नहीं दी जा सकती। ध्वनि होने के लिए व्यंग्यार्थ को उत्कृष्ट और रमणीय होना चाहिए। इसीलिए शास्त्रकारों ने ध्वनि की परिभाषा निश्चित करते हुए स्पष्ट कहा है कि जहाँ पर शब्द और अर्थ स्वयं को तथा अपने अर्थ को गौण बनाकर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराते हैं वहाँ ध्वनि होती है। जहाँ व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक रमणीय और चमत्कारी होता है वहाँ गुणीभूत व्यंग्य होता है। यहाँ पर हम साहित्यशास्त्रियों के मतों का उल्लेख नहीं करना चाहते जो व्यंग्य अर्थ के विरोधी नहीं हैं और न तो इस स्थल पर उन तर्कों के उल्लेख की ही आवश्यकता है जो व्यंजना के पक्ष में दिए गए हैं। इसी प्रकार लक्षणा में ही व्यंजना को अन्तर्भुक्त मानने वाले आचार्यों के विचारों तथा उनके द्वारा प्रस्तुत किए मतों के विवेचन के लिए भी यह स्थल उपयुक्त नहीं है। अन्ततः व्यंजना शक्ति की प्रतिष्ठा होकर ही रही।

बिहारी के दोहों का अध्ययन हम इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि वे ध्वनिवादी थे। इसलिए उनके लिए स्वाभाविक था कि वे व्यंजना की सहायता लेते। उनका समुचित मूल्यांकन करने के लिए (उनकी कलात्मक विवेचना के सिलसिले में व्यंजना का विश्लेषण आवश्यक है।)

आचार्यों के मतानुसार प्रमाणान्तर में अनुपलब्ध परन्तु शब्द प्रमाण में उपलब्ध अर्थ के प्रति किया गया व्यापार व्यंजना है जो अभिधा लक्षणा एवं तात्पर्यवृत्ति में प्राप्त न हुआ हो। इससे स्पष्ट है कि व्यंजना शब्द का व्यापार है यह प्रमाणान्तर से अप्राप्त है तथा तात्पर्यवृत्ति में अनुपलब्ध है। प्रमाणान्तर का अर्थ है शब्द-प्रमाण के अतिरिक्त अन्य प्रमाण जो संख्या में आठ हैं—प्रत्यक्ष अनुमान उपमान अर्थापत्ति अनुपलब्धि ऐतिह्य और सम्भव।

यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि जब व्यंजना शब्द का व्यापार है तो व्यंजना के दो भेद—शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना—क्यों किए जाते हैं? क्या यह 'शब्दो व्यापार' नहीं है? इसका उत्तर दो हुए मम्मट ने लिखा है—

शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यंजकत्वे तद् शब्दस्य सहकारिता॥

अर्थात् जहां शब्दप्रमाण-वेद्य अर्थ पुनः किसी अर्थ की अभिव्यक्ति करे वहां शब्द सहकारी है और अर्थ व्यंजक है। अतः जहां शब्द व्यंजक होगा वहां शाब्दी व्यंजना होगी तथा जहां अर्थ व्यंजक होगा (शब्द मात्र सहायक होगा। शब्द का सहायक होना आवश्यक है क्योंकि शब्द के आधार से हीन अर्थ की कोई सत्ता नहीं है) वहां आर्थी व्यंजना होगी।

शाब्दी व्यंजना नानार्थक शब्दों के प्रयोग से मानी जाती है। किन्तु श्लेषालंकार में भी तो नानार्थक शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। तब दोनों में भेद क्या है? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि श्लेषालंकार से उद्भूत सभी अर्थ वाच्य होते हैं और शाब्दी व्यंजना से अनेकार्थक शब्दों से उपलभ्य अर्थों में एक अर्थ व्यंग्य भी होता है। यहां एक बात और भी ध्यान देने की है। श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग श्लेषालंकार में भी होता है और शाब्दी व्यंजना में भी। तब सवाल यह उठता है कि एक जगह श्लिष्ट शब्दों द्वारा प्राप्त सभी अर्थ वाच्य होते हैं और दूसरी जगह उन्हीं शब्दों (श्लिष्ट शब्दों) द्वारा प्राप्त अनेक अर्थों में एक अर्थ व्यंग्य कैसे होता है? इसके समाधान में यह कहा जाता है कि श्लेषालंकार द्वारा प्राप्त सभी अर्थ या तो प्राकरणिक होते हैं या अप्राकरणिक। परंतु शाब्दी व्यंजना द्वारा प्राप्त अर्थों में कुछ प्राकरणिक होंगे और कुछ अप्राकरणिक। आचार्यों का कहना है कि प्रकरण-ज्ञान के कारण अभिधा और अर्थ देने में असमर्थ हो जाती है इसके बाद जिस अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती है वह व्यंजना-व्यापार द्वारा ही सम्भव है। संक्षेप में श्लेषालंकार और शाब्दी व्यंजना का भेद इसमें निहित है कि पहले दोनों अर्थ या तो प्राकरणिक होंगे या अप्राकरणिक पर दूसरे में एक अर्थ प्राकरणिक होगा तो दूसरा अप्राकरणिक। इसके स्पष्टीकरण के लिए बिहारी सतसई से ही दो उदाहरण लीजिए—

शाब्दी व्यंजना
अभिधा मूला

(१) अजौं तर्यौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक-रंग।
नाक-बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतन कैं संग॥
(श्लेषालंकार)

(२) चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यौं न सनेह गँभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥
(शाब्दी व्यंजना)

पहले उदाहरण के दोनों अर्थ प्राकरणिक हैं और दूसरे उदाहरण का एक अर्थ प्राकरणिक है दूसरा अप्राकरणिक। श्लेषालंकार में जहाँ कोरा शब्द-चमत्कार है वहाँ आर्थी व्यंजनाओं में व्यंग्य अर्थ के कारण चारुत्व अधिक आ गया है।

इस उदाहरण में केवल अप्राकरणिक अर्थ ही व्यंग्य नहीं है बल्कि दोनों अर्थों में एकसूत्रता स्थापित करनेवाला 'उपमालंकार' भी व्यंग्य है। यदि दोनों अर्थ सर्वथा असंबद्ध होते तो कवि की प्रतिभा असिद्ध मानी जाती। संबंधस्थापनार्थ जिस उपमा का आक्षेप यहाँ करना पड़ रहा है उससे दोनों वाक्यार्थों में उपमानोपमेयभाव स्थापित होगा। उपमानोपमेयभाव के कारण जिस विचार की सृष्टि उक्त दोहे में की गई है वह रमणीयार्थप्रतिपादक हो गया है।

इस व्यंजना का संबंध प्रयोजनवती लक्षणा से है। इसमें प्रयोजन या फल की प्रतीति व्यंजना द्वारा मानी जाती है। लाक्षणिक शब्द के प्रयोग में वक्ता का कोई-न-कोई प्रयोजन निहित रहता है। यह प्रयोजन सदैव व्यंग्य होता है। इस व्यंग्यार्थ की स्पष्टता-अस्पष्टता के आधार पर इसके दो भेद किए गए हैं—अगूढ़ व्यंग्या और गूढ़ व्यंग्या।

लक्षणामूला

अगूढ़ व्यंग्या में व्यंग्य स्पष्ट होता है। अतः गूढ़ व्यंग्या की अपेक्षा इसका काव्यात्मक स्तर नीचा होता है। कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) निरत सु मरकत मनि-बिनु रसिक, सु रस न, दिखात।

(२) मदन सदन के फिरन की सदन छुटे, हरिराइ।

(३) मान प्रिया हिय मैं बसी मन-रेखा-सलि भाव।
मलो दिखायौ आइ यह हरि हर-रूप रसाल॥

उपर्युक्त दोनों उदाहरण में विपरीत लक्षणा से रसिक का अर्थ अरसिक और हरिराय का अर्थ अप्रतिष्ठा सूचक है। रसिक का मुख्यार्थ अरसिक तथा इसका प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ रसिकता-संपन्नता का आधिक्य है।

गूढ़ व्यंग्या अपेक्षा इसके अस्पष्ट होने के कारण गूढ़ व्यंग्या अधिक चमत्कारक होती है—

(१) लहलहाति तन तरुनई लचि लगि ली लफि जाइ॥

(२) होमति सुनु करि कामना तुमहिं मिलन की लाल।

लहलहाना तारुण्य का धर्म नहीं है बल्कि हरे-भरे खेतों और हरी भरी क्यारियों का धर्म है। मुख्यार्थ बाध से इसका लक्ष्यार्थ हुआ नवनाभिराम भरा-पूरा यौवन और प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ हुआ यौवन की संपूर्ण विशेषताओं की पराकाष्ठा। दूसरे उदाहरण में 'होमति' फलातिशय का व्यंजक है।

आर्थी व्यंजना में व्यंजना अर्थ का व्यापार है। कुछ विद्वानों के मतानुसार व्यंजना सर्वदा अर्थ का व्यापार होती है शब्द का नहीं पर ध्वनिवादियों की दृष्टि से यह असंगत है। आर्थी व्यंजना में अर्थ व्यंग्यार्थ का साधन है। यह अर्थ जिससे व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वाच्य भी हो सकता है लक्ष्य तथा व्यंग्य भी। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ तीनों अर्थों से व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है। इसके अनुसार आर्थी व्यंजना के तीन भेद किए गए हैं—*वाच्यसंभवा लक्ष्यसंभवा* और व्यंग्यसंभवा। इनके बहुत से उदाहरण सतसई में भरे पड़े हैं—

आर्थी व्यंजना

वाच्य संभवा—

(१) तंत्रीनाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।
अन बूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥

(२) बाम भरीक मिताधि कलित कलित अलि-पुंज।
जमुना-तीर तमाल-तरु मिलित मालती कुंज॥

प्रथम दोहे मे वाच्यार्थ परस्पर विरोधी बातें व्यक्त करता है। इसका व्यंग्यार्थ होगा कि तंत्रीनाद आदि में आकंठ मग्न होने पर ही पूर्ण रसास्वादन होता है। दूसरे उदाहरण में व्यंग्य है नायिका के स्वैर-विहार का संकेत।

लक्ष्यसंभवा

कत सकुचत, निधरक फिरौ रतियौ खोरि तुम्हें न।
कहा करी जौ जाइ पै लगी लगौंहैं नैन॥

लक्ष्यसंभवा आर्थीव्यंजना में तीन अर्थों की प्रतीति होती है। लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना में लक्षक लक्ष्यार्थ व्यंग्य होता है पर लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना में लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस उदाहरण में वाच्यार्थ है 'संकुचित क्यों होते हो निधड़क फिरा करो तुम्हें रत्ती भर दोष नहीं है। यदि ये लगौंहे नयन कहीं जा लगे तो तुम क्या करो। लक्ष्यार्थ यह है—तुम स्वयं दोषी हो। न तो तुम्हें संकोच है और न डर। तुम न

जाओ तो क्या तुम्हारी आँखें तुम्हें पसीने से बाँधे। इस अदर्थ का व्यंग्यार्थ है कि तुम बहुत बड़े निर्लज्ज हो बेहया हो यदि तुम चाहो तो अपने स्वभाव को बदल सकते हो।

व्यंग्यसंभवा

सनु सूख्यौ, बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहरि अजौं धरि धरहरि जिय नारि॥

इसमें अरहर की सघनता व्यंग्य है और उससे व्यंग्यार्थ निकलता है बहुत उपयुक्त संकेतस्थल।

व्यंग्यार्थ-बोध के सहायक

वाच्य लक्ष्य और व्यंग्य अर्थों में व्यंग्यार्थ-बोध की क्षमता वक्ता बोद्धव्य काकु वाक्य वाच्य अन्य के सान्निध्य प्रस्ताव देश काल तथा चेष्टा के वैशिष्ट्य से प्रादुर्भूत होती है। पर व्यंग्यार्थ की झलक उसी को मिल सकती है जो प्रतिभासंपन्न हो।

इसमें वक्ता के स्वभाव आदि की विशिष्टता जान लेने पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। मुख्यार्थ वस्तु वैशिष्ट्य के संदर्भ में ठीक-ठीक नहीं बैठ पाता। ऐसी स्थिति में उसमें वक्ता की विशिष्टता के कारण व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है—

वस्तु वैशिष्ट्य

लटकि लटकि लटकतु चलतु डटतु मुकुट की छाँह।
चटक भरयौ नटु मिलि गयौ अटक भटक बट माँह॥

इस दोहे में वस्तु-वैशिष्ट्य के कारण उसकी प्रेम-पीड़ा व्यंग्य है।

वाच्य-वैशिष्ट्य

वाच्य-वैशिष्ट्य में व्यंग्यार्थ की प्रतीति का मुख्य साधन वाच्यार्थ है। इसमें वाच्य साधन है और व्यंग्य साध्य—

धाम घरीक निवारियै कलित ललित अलिपुंज।
जमुना तीर तमाल तरु मिलित मालती कुंज॥

इसके वाच्य-वैशिष्ट्य से (इसमें देश और काल-वैशिष्ट्य भी है। 'जमुनातीर' देश-वैशिष्ट्य है और 'धाम घरीक निवारियै' में काल-वैशिष्ट्य है) नायिका की रति-क्रीड़ा की अभिलाषा व्यंग्य है।

व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने वाले साधनों में चेष्टा का विशेष महत्त्व है। अभिनय के प्रकरण में इन चेष्टाओं या भंगिमाओं का बहुत महत्त्व आँका गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर

चेष्टा

भाव-व्यंजना में चेष्टा का पर्याप्त योग मानना होगा। वास्तव में चेष्टाएँ दो प्रकार की होती हैं— साधक और सिद्ध। जब कभी वे वाणी के सहायक के रूप में व्यक्त होती हैं तो वे साधक कही जायँगी। बात करते समय बातों में पूर्णता के लाने के लिए व्यक्ति हाथ आँख मुख आदि से अनेकानेक चेष्टाएँ करता है। जहाँ वाणी मूक होती है—कुछ ऐसे प्रसंग होते हैं जहाँ वाणी से काम नहीं लिया जा सकता क्योंकि सामाजिक विधि-निषेध उनके प्रतिकूल पड़ते हैं—वहाँ उनका स्थान चेष्टाएँ ले लेती हैं। इनको सिद्ध चेष्टा का नाम दिया जा सकता है। ये चेष्टाएँ प्रायः गूढार्थ की द्योतक होती हैं। प्रेम-प्रसंगों में इन गूढार्थ-गर्भ चेष्टाओं का कितना महत्त्व आँका जाय थोड़ा है।

यहाँ एक बात और भी ध्यान देने की है कि ये चेष्टाएँ संयोगमूलक चेष्टाएँ हैं वियोग में इनका कोई महत्त्व नहीं है। वियोग की भाव-विह्वल अवस्था में इस सचेत व्यापार का कोई स्थान नहीं है। बिहारी के क्रीडापरक दृष्टिकोण के कारण उनकी सतसई में चेष्टाओं के उदाहरण भरे पड़े हैं।

कुछ उदाहरण देखिए—

(१) चितवनि बामि दिखाइ कर सिर धरि सकुचि, समारि।
गली, भली की ओट ह्वै चली भली बिधि चारि॥

(२) भौंह ऊँचै आँचरु उलटि मौरि मोरि, मुँह मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई, दीठि दीठि सौं जोरि॥

(३) बलि गुरुजन बिच कमल सौं सीस छुवायौ स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम॥

तीसरे दोहे की रत्नाकरी टिप्पणी देखें—

[नायिका को] गुरुजनों के बीच में देखकर स्याम ने [अपना] सिर कमल से छुवाया (पाँव पड़ने की चेष्टा कर के मिलने की प्रार्थना सूचित की)। बाम (बामा अर्थात् नायिका) ने [यह भाव समझ कर अपनी] आरसी हरि (सूर्य के सामने करके हृदय में लगा ली (आरसी में सूर्य का

प्रतिबिम्ब लहर कुच-रूपी पहाड़ों के बीच में समाने से यह सूचित किया कि सूर्य के अस्ताचल में छिपने पर अर्थात् रात्रि को मिलूँगी)।

पर यदि इसको काव्य मान लिया जाय तो पहेलियों को भी इसी की श्रेणी में रखना होगा।

व्यंग्य के तीन भेद

वस्तु चमत्कार और रस की दृष्टि से व्यंजना के तीन भेद होते हैं—वस्तु व्यंजना चमत्कार-व्यंजना और रस-व्यंजना। वस्तु और चमत्कार के लिए व्यंग्य होना अनिवार्य नहीं है वे वाच्य भी होते हैं पर रस व्यंग्य ही होता है वाच्य रूप में रस प्रतीति हो ही नहीं सकती। बिहारी सतसई में तीनों तरह की व्यंजनाएँ मिलती हैं—

वस्तु-व्यंजना

कुंज भवनु तजि भवन कौं चलियै नंदकिसोर।
फूलति कली गुलाब की चटकाहट चहुँ ओर॥

अन्तिम पंक्ति से दो वस्तुओं की व्यंजना हो रही है एक तो फूली हु
गुलाब की कली की चटचटाहट की और दूसरी प्रातःकाल की।

चमत्कार-व्यंजना

हैं हरि, हौंही सखि, चली, चरि न चटा बलि, बाल।
सबहिनु बिनु हौं बसि रहे बीधनु बागु मराल॥

यहाँ भ्रान्तिमान चमत्कार व्यंग्य है।

रस-व्यंजना

जहाँ जहाँ ठाढ़ौ लख्यौ स्यामु सुभग सिरमौरु।
बिन हूँ उन छिनु गहि रहतु दृगनु अजौं वह ठौरु॥

'जहाँ जहाँ सुन्दर पुरुषों के शिरोमणि श्याम (श्री कृष्णचन्द्र) को खड़
देखा था वह ठौर अब तक उनकी अनुपस्थिति में भी दृगों को क्षणमात्र पर
रखता है। श्री कृष्ण के संसर्ग में आस पास सभी स्थान आँखों को श्याम म

के लिए पकड़ लेते हैं। इस तरह स्मृति-संचारी व्यंग्य होता है, इस स्मृति-संचारी से विप्रलंभ शृंगार की व्यंजना होती है।

व्यंजना के अनेक भेदों और उदाहरणों की पर्यालोचना हमें यह सोचने के लिए बाध्य करती है कि व्यंजना सर्वत्र उत्तम काव्य की द्योतिका नहीं है। आचार्यों ने इसी लिए उत्तमोत्तम उत्तम मध्यम और अधम काव्य-श्रेणियाँ मानी हैं। उत्तमोत्तम काव्य वही माना जायगा जिसमें रस-ध्वनि के अधिक स्थल मिलें। इस दृष्टि से सतसई का अध्ययन रोचक विषय होगा।

७

भाषा

काव्य की भाषा और गद्य की भाषा में अन्तर होता है क्योंकि दोनों की अभिव्यंजना-पद्धतियों में अन्तर होता है। काव्य की भाषा का प्रयोग मन की भावात्मकता पर आधारित है तो गद्य की भाषा मन की दूसरी स्थिति पर आश्रित है। काव्यात्मक अभिव्यक्ति के समय मन की एकतानता अत्यधिक घनीभूत रहती है और गद्यात्मक अभिव्यक्ति के अवसर पर वह प्रसरणशील दिखाई देती है। पहली अवस्था में मन को संश्लेषणात्मक कहा जा सकता है तो दूसरी अवस्था में उसे विश्लेषणात्मक की संज्ञा दी जाती है। रचना प्रक्रिया की अवधि में गद्यात्मक भाषा अपेक्षाकृत अधिक नियमानुवर्तिनी और परंपरायुक्त होती है। भाव-संकुल होने के कारण काव्य-भाषा लोक-भाषा का अतिक्रमण कर जाती है उसमें भाव का दबाव अधिक आ जाता है। इसीलिए काव्य भाषा को आई० ए० रिचार्ड्स ने रागबोधात्मक (Emotive) कहा है।

शब्द का बाह्याकार तथा उसका संगीत उसकी अर्थवत्ता तथा उसकी *सांकेतिकता कवि के लिए सब कुछ है। संस्कृत के आचार्यों ने शब्दार्थ को* अविभाज्य और एक माना है। शब्दों के अनुषंग (Associations) एक विशेष प्रकार के अद्भुत बिंब की सर्जना करते हैं जिससे भावों और विचारों के सम्प्रेषण में सहायता पहुँचती है। काव्यात्मक शब्दावली के लिए इतना ही

अलम् नहीं है बल्कि उसे मानसिक तारों को स्पन्दनपूर्ण भी बनाना पड़ता है। मेरी दृष्टि में इस तरह की शब्दावली में व्यंजना-शक्ति की निहिति आवश्यक है।

काव्यात्मक भाषा की अपनी एक लय और शब्दावली होती है जो युग के अनुरूप परिवर्तित होती रहती है। तुलसी-सूर की ब्रजभाषा की लय और रीतिकालीन कवियों की ब्रजभाषा की लय में पर्याप्त अन्तर है। उसी प्रकार रीतिकालीन ब्रजभाषा और भारतेन्दु-रत्नाकर की ब्रजभाषा की लय में काफ़ी अन्तर आ गया है। कभी-कभी एक ही युग के दो-कवियों की लय में बहुत पार्थक्य दिखाई देता है। उदाहरणार्थ भारतेन्दु और रत्नाकर की भाषाओं की लयात्मक भिन्नता देखी जा सकती है—एक की लय आधुनिक है तो दूसरे की मध्यकालीन। ऐसा व्यक्तिगत विचारों के कारण होता है। यही बात शब्द (Idioms) के सम्बन्ध में भी लागू है। लय और शब्द का सम्बन्ध तत्कालीन जीवन से होता है। इस अर्थ में कोई काव्य अपने युग का प्रति-क्रमण नहीं करता। अपने युग की शब्दावली और लय से पूर्णतया सम्बन्ध न होने पर कोई काव्य युग का प्रतिबिम्बित कर पाने में सर्वथा असमर्थ होता है। नई कविता अपने आज के रूप में युग जीवन को व्यक्त करने में समर्थ नहीं हो पा रही है। इस दृष्टि से रीतिकाल का काव्य आदर्श कहा जा सकता है।

अब हम पहले इन दोनों दृष्टियों से बिहारी की भाषा पर विचार करेंगे। इसके अनन्तर भिन्न-भिन्न प्रकार की बोलियों तथा व्याकरणगत स्थिरता-अस्थिरता पर विचार करना अधिक संगत होगा क्योंकि काव्यभाषा के महत्त्व का आकलन इसी क्रम में करना अधिक मनोवैज्ञानिक है।

ऊपर इस बात का संकेत किया जा चुका है कि गद्य में अर्थ-बोध का महत्त्व होता है तो काव्य में राग-बोध का। राग-बोधात्मक शब्दों का चयन अधिक सतर्कता और भाषागत अधिकार की माँग करता है। राग-बोधात्मक होने के लिए आवश्यक है कि कवि को यह मालूम हो कि अमुक शब्द अपने संदर्भ में औचित्यपूर्ण तथा व्यंजक है। व्यंजक होने के लिए

भाषा की आत्मा का ज्ञान

एक हद तक शब्द को अनुरंजन-संयुक्त होना चाहिए। और यह तभी सम्भव है जब उसे शब्द की आत्मा का पूर्ण ज्ञान हो। यहाँ कुछ उदाहरणों के आधार पर यह देखा जाएगा कि शब्दों का कितना गहरा ज्ञान बिहारी को था।

कृष्ण शब्द को ही लीजिए। इसके अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग बिहारी ने किया है जिनकी छान-बीन करने पर लगता है कि उन स्थलों में वे ही शब्द सर्वाधिक उपयुक्त थे—

(१) साजे मोहन-मोह कौं, मोहीं करत कुचैन।

× × ×

(२) कच-अँगुरी-बिच दीठि दै, चितवति नन्दकुमार।

× × ×

(३) रतिपाली, आली अनत, आए बनमाली न।

× × ×

(४) चटक-भरी नटु मिलि गयी अटक-भटक-बट माँह।

× × ×

(५) केरि कहकही बीरियै सुरत सींचि घनस्याम।

मोहन के मोहने में जो चमत्कार है वह अन्य में नहीं। मोहन मोहकता के गुण से स्वयं सम्पन्न है इसलिए उसको मुग्ध करना अपेक्षाकृत अधिक कठिन है। नन्दकुमार में जो कुमारत्व है वह चितए जाने के प्रसंग में भाव-सम्पत्ति से पूर्ण है। संकेतस्थल पर जो प्राय वन नदी-तट आदि हुआ करता है, न आकर वनमाली ही अन्यत्र रति का पालन कर सकते हैं। अटक-भटक-बट के प्रसंग में कोई चतुर नट ही मुग्धा बालिका का उद्धार करने में समर्थ है। 'घनस्याम' इससे अधिक व्याख्या की माँग नहीं करता।

कहीं-कहीं बिहारी में इस औचित्य का निर्वाह नहीं हो पाया है, जैसे—

सीस मौरि रदिदै बिटु मन देखियो मुरारि।
बीचे मोर्यौ आइ कै गीय गीवहि तारि॥

यहाँ पर 'मुरारि' शब्द से मारने की तत्परता स्पष्ट है। पर इस तरह का स्खलन बिहारी में बहुत कम है।

छिनु छिनु बढ़तु न हात हठि काजल-रँग बारोर।
माधवाल के मढ़परा प, आगम के घोर॥

यों इसमें भी चमत्कार तो है ही कि सामान्यतः चोर चोर छाह प्रभाव वान और मोह द्वारा मनुष्य का मन-हरण करते हैं पर बरजोर दोनों सावधान और जागते हुए का चित्त-वित्त हरण करती है। किन्तु यदि यहाँ लम्पट भी चतुर चोर चोर चार के स्थान पर लम्पट रख दें तो शब्द प्रयोग अनौचित्यपूर्ण

हो जायगा क्योंकि जागते हुए व्यक्ति की चोरी तो की जा सकती है पर साव धान व्यक्ति का धन चुराना बहुत ही कठिन है। सावधान व्यक्ति का धनापहरण बलपूर्वक किया जा सकता है जो चोर का नहीं डाकू का काम है।

'लोचन' और 'लोइन' समानार्थी हैं। इन दोनों शब्दों का प्रयोग सतसई में हुआ है—पर भिन्न भिन्न संदर्भों में। 'लोइन' में जो 'लावण्य' भाव निहित है वह लोचन में नहीं।

शब्दों के इस वैचित्र्य और औचित्य का विचार व्यंजना और शब्द-ध्वनि के प्रसंग में किया जा चुका है। मुहावरों की चर्चा भी अलग से हो चुकी है। यहाँ पर उनका पिष्टपेषण नहीं किया जायगा।

'दास' की षट्‌विधि भाषा

'भिखारीदास' ने 'काव्य-निर्णय' में लिखा है—

> भाषा ब्रजभाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ।
> मिलै संस्कृत पारस्यो, पै अति प्रगट जु होइ॥
> ब्रज मागधी मिलै अमर, नाग जमन भाषानि।
> सहज पारसी हू मिलै, षट विधि कवित बखानि॥

अर्थात् ब्रजभाषा में संस्कृत और फ़ारसी का स्पष्ट मेल है। इनके साथ ही उसमें मागधी नाग (अपभ्रंश) यवन (खड़ी बोली) का सम्मिश्रण था। फ़ारसी के मेल के सम्बन्ध में दास पर्याप्त सावधान प्रतीत हो रहे हैं इसीलिए उन्होंने 'सहज' का प्रयोग किया है। 'सहज' यहाँ पर क्रियाविशेषण है। उसका अर्थ यह है कि ब्रजभाषा में फ़ारसी के वे ही शब्द गृहीत होने चाहिएँ जो स्वाभाविक रूप से उसमें खप जाँय।

अपनी दीर्घ परंपरा और भौगोलिक स्थिति के कारण ब्रजभाषा का बहुत ही अधिक प्रचार और प्रसार हुआ। इसलिए वह स्वच्छन्दता पूर्वक अनेक भाषाओं और बोलियों के शब्दों को ग्रहण करती गई। कोई भी विकासशील भाषा अपनी भौगोलिक सीमा का अतिक्रमण कर नए-नए शब्दों को आत्मसात् करती जाती है। वह उसकी समृद्धि और गतिशीलता का लक्षण है। जब कोई भाषा परिनिष्ठित हो जाती है तो उसके क्षेत्र के बाहर के कवि भी उसी भाषा में अपनी रचना करते हैं। ब्रजभाषा के साथ भी ऐसा ही हुआ। इसके फलस्वरूप उसमें बहुत सी बोलियों के शब्द अनजाने ही आ मिले। इसीलिए तो दास को कहना पड़ा था—

'ब्रजभाषा हेत ब्रजबास ही न अनुमानौ
ऐसे ऐसे कविन की बानी हू सों जानिए।'

संस्कृत की विपुल शब्दावली ब्रजभाषा को उत्तराधिकार में मिली है। बिहारी ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग सतसई में खूब किया है। अक्षत अधीनता अविभक्त निदाघ आमरंब असंयोदक्त अमित पावस प्रथम प्रयोग काम व्यूह इन्दीवर, कलित-ललित अनिर्मुक्त कोकनद, घनसार प्रति विविध मकराकृति परिमल अव्यावली मुनि बहु कलमुखा आसव आदि आदि शब्द सतसई में देखे जा सकते हैं।

संस्कृत और अरबी-फारसी

मुसलमानों के आगमन से इस देश में जिस नवीन संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ उससे भाषा के क्षेत्र में भी नया रंग आया। बहुत से मुसलमान राजा रईसों ने हिन्दू कवियों को उदारतापूर्वक आश्रय दिया। हिन्दू-मुसलमान जनता आपस में इतनी घुलमिल गई, कि एक दूसरे की रीति-नीति आचार विचार और भाषा-संस्कृति में भी मिश्रण आ गया। हिन्दी-साहित्य के प्रारंभिक कवियों तक की भाषा में अरबी फारसी के शब्द अनायास ही आ मिले। अरबी-फारसी के कुछ शब्द तो जन-जीवन के अंग बन गए। समर्थ कवियों ने प्राय इन्हीं शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। सतसई में प्रयुक्त अहसान कुतुब चश्मा जोर, बेकाम शिकार मजमून निशान हद हमाम गाहक फौज पायन्दाज मुलुक आदि शब्द ऐसे ही हैं। ऐसे ही शब्दों को दास ने 'सहज पारसी हू मिले' कहा है। पर बहुत से अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से भी इनकी रचना अछूती नहीं है जैसे—इजाफा बदराह ताफ्ता रोशन दाखिल नबी (नबीह) आदि। फिर भी सतसई में ऐसे शब्द अपेक्षाकृत कम हैं। जिस सामंतीय वातावरण में इनका लालन-पालन हो रहा था उसमें ऐसे पांडित्य प्रकाशक शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक था।

ऊपर कहा जा चुका है कि ब्रजभाषा की कविता में संस्कृत और फारसी शब्दों का बाहुल्य रहा है। (बिहारी ने यदि अरबी-फारसी के शब्दों को संस्कृत और ब्रजभाषा के व्याकरण में बाँधा है तो वहीं संस्कृत-ब्रजभाषा के शब्दों को विदेशी उपसर्गों-प्रत्ययों से सजाया है। बेवाज का बेवाजिबी गुनाह का गुनही आदि पहले प्रकार के उदाहरण हैं तो बे-ताप और दोहगीर जैसे शब्द दूसरे प्रकार के उदाहरण।)

सामान्यतः ब्रजभाषा बुन्देलखण्डी अवधी और पूर्वी बोलियों से प्रभावित है। इसके कारणों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। बिहारी के सम्बन्ध में तो प्रसिद्ध है—'जन्म ग्वालियर जानिए बोलियों का घालमेल खण्ड बुँदेले बास।' लड़कपन के गहरे संस्कारों को मिटा पाना सम्भव नहीं है। बिहारी में बुन्देलखंडी के प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है—

> कौन भाँति रहिहै बिरद अब देखवी मुरारि।
> बीधे मोसों आनि कै गीधे गीधहिं तारि॥

उपर्युक्त दोहे में देखवी बीधे गीधे बुन्देलखंडी शब्द हैं। अन्य कवियों की भाँति 'भैंर' का प्रयोग भी बिहारी ने किया है जो बुन्देलखंडी है।

अवधी में भूतकालिक क्रियाओं के अन्तर्गत रूप खूब चलते हैं। इनमें लिंग वचन और पुरुषगत विकार की आवश्यकता नहीं रहती। ब्रजभाषा में भी इन प्रयोगों को देखा जा सकता है। अवधी और पूर्वी के अन्य बहुत से शब्द भी ब्रजभाषा में इस तरह प्रयुक्त हुए हैं कि उन्हें सरलता पूर्वक अलग करना कठिन हो जाता है। अवधी से प्रभावित ब्रजभाषा के कुछ नमूने देखिए—

> कियौ न सोकुल कुलवधू काहि न किहि सिख दीन।
> कौने तजी न कुल गली ह्वै मुरली-सुर-लीन॥
> पिय तिय सौं हँसिकै कह्यौ लखै दिठौना दीन।
> चंदमुखी मुखचंद तैं भलौ चंदसम कीन॥

(अवधी की कुछ क्रियाओं का प्रयोग भी बिहारी ने किया है—
'चित के हित के चुगल ए नित के होंहि न मैन।')

इस पर रत्नाकर जी की टिप्पणी द्रष्टव्य है— 'होंहि' का प्रयोग है के स्थान पर अवधी भाषा में प्रचलित है। श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी 'होंहि' का प्रयोग है के अर्थ में बहुतायत से किया है।

डा० हरवंशलाल शर्मा और परमानन्द शास्त्री ने "बिहारी और उनका साहित्य" में संस्कृत के स्वार्थे 'क' प्रत्यय का उल्लेख करते हुए लिखा है कि अवधी में 'वा' प्रत्यय भी स्वार्थे प्रयुक्त होता है। 'यह वा' प्रत्यय व्यक्ति वाचक संज्ञाओं से भी जोड़ दिया जाता है जैसे हमीर से हमीरवा'। बिहारी सतसई में इस प्रकार का केवल एक ही उदाहरण पाया है—

> गोरी गदकारी परै हँसत कपोलन गाड़।
> कैसी लसति गँवारि यह सुनकिरवा की आड़॥"

किन्तु इस प्रकार के प्रत्ययों के एकाधिक उदाहरण बिहारी में मिल जाते हैं।

(१) पँचति सी चितवनि चितै भई ओट अलसाय।
फिरि उझकनि कौं मृगनयनि दृगनि लगनिया लाय॥

(२) लटुवा लौं प्रभु कर गहैं निगुनी गुन लपटाइ।
वहै गुनी कर तें छुटैं निगुनीयै ह्वै जाइ॥

लगनिया का 'या' और लटुवा का 'वा' स्वार्थे प्रत्यय है।

(मिश्रबन्धुओं ने बिहारी पर भाषा को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने का आरोप लगाया है।) इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत उल्लेख्य है—('बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक शब्दों की तोड़-मरोड़ है। वाक्यरचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। 'भूषण' और 'देव' ने शब्दों का बहुत अंग-भंग किया है और कहीं-कहीं गढ़न्त शब्दों का व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है। दो-एक स्थल पर ही स्मर के लिए 'समर' जैसे ऐसे विकृत रूप मिलेंगे। जो यह भी नहीं जानते कि संक्रांति को संक्रमण (अप० संक्रोन) भी कहते हैं, अच्छ साफ के अर्थ में संस्कृत शब्द है, 'रोज' रुलाई के अर्थ में आगरे के आसपास बोला जाता है और कबीर जायसी आदि द्वारा बराबर व्यवहृत हुआ है। सोनजाई शब्द जायसी में मिलता है—जुही से कोई मतलब नहीं, संस्कृत में वारि और वारि दोनों शब्द हैं और वारि का अर्थ भी बादल है, 'मिलान' पड़ाव या मुकाम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है, चलती ब्रजभाषा में 'सिद्धादशा' रूप ही आता है, सन्तति का रूप बहुवचन में नहीं होगा यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ तो बेचारे बिहारी का क्या दोष?'[१]।

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २५

इस सम्बन्ध में रत्नाकर जी ने मुख्यत: दो क्रियाओं का उल्लेख किया है—'चितई' और 'किय' का। चितई वस्तुत: ब्रजभाषा व्याकरण के अनुसार शुद्ध नहीं माना जा सकता। 'चितवना' का भूतकालिक प्रयोग ब्रज में चितयो या चितयौ होगा और अवधी में चितई। पर बिहारी ने लिखा है—

क्रिया के कुछ विरुद्ध प्रयोग

> **चितई ललचौंहैं चखनु डटि घूँघट-पट माँह।**
> **छल सौं चली छुवाइ कै छिनकु छबीली छाँह॥**

रत्नाकर जी का कहना है कि इस शब्द का प्रयोग बिहारी ने सब ठौर सकर्मक ही किया है। १४४, ११६, ४६१ तथा ६२१ अंकों के दोहों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है और सब में सकर्मक ही प्रयोग है।[1] पर पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने यह कहते हुए कि 'पर लखी' का प्रयोग भी मौजूद है' इस प्रयोग को चिन्त्य माना है।

लेकिन इस तरह के प्रयोग पुरानी ब्रजभाषा में मिलते हैं—

> **हौं पठई ही प्रेम सुधि तैं रुखि मानी बाब।**[2]

'किय' का 'कियौ' के अर्थ में बिहारी ने प्रयोग किया है (दे० बिहारी रत्नाकर दो० ४२, २१२)। रत्नाकर जी का कहना है कि 'किय शब्द का एक वचन पुल्लिंग रूप सामान्यत: 'कियौ' होता है पर ४२ वें अंक के दोहे में बिहारी ने भी अन्य कवियों की देखा-देखी किय रूप ही एकवचन पुल्लिंग में प्रयुक्त कर दिया है। ऐसे प्रयोग गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास जी ने अधिकता से किए हैं।[3]

जो हो पर यह प्रयोग चिन्त्य ही माना जायगा।

लिंग की गड़बड़ी प्राय: ब्रजभाषा के सभी कवियों में मिलती है। ब्रजभाषा में अनेक अंचलों की बोलियों के संमिश्रण के कारण इस प्रकार की गड़बड़ी का सन्निवेश स्वाभाविक हो गया क्योंकि एक ही शब्द एक अंचल में एक लिंग में प्रयुक्त होता है तो दूसरे अंचल में दूसरे लिंग में। बिहारी भी इससे अछूते नहीं रह सके। रत्नाकरी टीका में इस प्रकार के कई शब्दों

लिंग की गड़बड़ी

१—बिहारी रत्नाकर नवीन संस्करण पृ १ ६
२—इसावती हिन्दी का प्र नया काशी पृ ६०
३—कविवर बिहारी पृ ११०–११

का निर्देश किया गया है जो लिंग की दृष्टि से औचित्यपूर्ण नहीं माने जा सकते ।

रत्नाकर जी ने इस सिलसिले में उसासु (दो० ११८ २९२) बरप (दो० २९०) मिठासु (दो० १२३) दख (दो १९४) पल (दो० ५८९) बकवास (दो ६१७) मधु (दो० ११२) आदि शब्दों की लिंग सम्बन्धी त्रुटियों का उल्लेख किया है। इनमें से कुछ का प्रयोग उन्होंने त्रुटिपूर्ण स्वीकार कर लिया है और कुछ को परंपरा से प्राप्त बतलाया है। 'उसास' शब्द को ही लें। रत्नाकर जी का कहना है—'भाषा के कवियों ने इस शब्द को पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग दोनों रूपों में प्रयुक्त किया है। बिहारी ने भी इसका दोनों प्रकार से प्रयोग किया है। इस दोहे के अतिरिक्त सतसई के और आठ दोहों में यह शब्द आया है। २९२ ३१४ ४४९, ४८७ ५०७ ५१४ ५२१ तथा ६६० अंकों के दोहे द्रष्टव्य हैं। इनमें से कई दोहों में इसका स्त्रीलिंग प्रयोग हुआ है और कई में पुल्लिंग-प्रयोग। 'बरप' शब्द के सम्बन्ध में उनका कहना है कि इसे उन्होंने स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किया है ब्रज की बोलचाल की भाषा में इसका स्त्रीलिंग प्रयोग सुनने में आता है पर कविता में इसका प्रयोग पुल्लिंग में ही हुआ है। 'मिठासु' सामान्यतः पुल्लिंग माना जाता है पर बिहारी ने इसका प्रयोग पुल्लिंगवत् किया है। ४७१ वें दोहे में इसके साथ 'दयौ' तथा किन्हीं शब्दों का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि वे इसे पुल्लिंग मानते थे।

'दर' का प्रयोग बिहारी ने स्त्रीलिंग में किया है (दे० दो० २१६, २४१ १६४ और ४१५)। यह फारसी का शब्द है जो वहाँ स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है। किन्तु भाषा में इसके दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। बिहारी ने इसको स्त्रीलिंग मानकर कम से कम एकरूपता की रक्षा की है। 'पल' का प्रयोग संस्कृत व्याकरण के अनुसार उन्होंने पुल्लिंगवत् किया है जब कि भाषा में पल और पलक का स्त्रीलिंग प्रयोग होता है।

'बकवादु' (दो० ६१७) पर अपने विचार प्रकट करते हुए रत्नाकर जी ने लिखा है—बकवाद शब्द का प्रयोग यहाँ बिहारी ने पुल्लिंगवत् किया है। यह शब्द 'बकन-वाद' से बना है। संस्कृत में यह शब्द पुल्लिंग ही होता है। पर भाषा में स्त्रीलिंग माना जाता है'[1]। रत्नाकर जी ने बकवाद को

१—बिहारी-रत्नाकर नवीन संस्करण, पृ० २१२

उकारान्त मानकर इसे पुल्लिंग मान लिया है। यदि इसे सकारान्त ही माना जाय और संस्कृत के 'वाक्यवास' अपभ्रंश-रूप से इसकी संगति न बैठाकर फ़ारसी के बकबास से बिठाई जाय तो द्राविड़ प्राणायाम की आवश्यकता न पड़े। जब सतसई में अरबी-फ़ारसी के साधारण-असाधारण शब्द भरे पड़े हैं तो इसे फ़ारसी के बकबास का ही एक रूप क्यों न माना जाय? फ़ारसी में बकबास स्त्रीलिंगवत ही प्रयुक्त होता है। इस दोहे में उकारान्त न होने पर इसे स्त्रीलिंग मान लेने पर क्या आपत्ति हो सकती है?

अब आइए 'बायु' शब्द पर विचार करें। रत्नाकर जी का कहना है कि 'इस दोहे में बिहारी ने बायु शब्द का स्त्रीलिंग-प्रयोग किया है पर इसके पहले के दोहे में 'बाइ' शब्द को पुल्लिंग माना है। भाषा में बायु शब्द स्त्रीलिंग तथा पुल्लिंग दोनों ही रीति से प्रयुक्त होता है'[1]। यहाँ पर दोनों दोहों का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) लपटी पुहुप-पराग-पट सनी स्वेद मकरंद।
आवति नारि नवोढ़ लौं सुखद बायु गति मंद॥

(२) चुवतु स्वेद मकरंद-कन तरु-तरु-तर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन देस तैं थक्यौ बटोही बाइ॥

कहना न होगा कि उदाहरण संख्या १ में बायु का स्त्रीलिंग प्रयोग है और उदाहरण संख्या २ में बाइ का पुल्लिंग प्रयोग है। पहले उदाहरण में बायु प्रस्तुत है और 'नारि नवोढ़' अप्रस्तुत। इसमें 'बायु' का प्रयोग स्त्री-लिंग में ही हुआ है। दूसरे उदाहरण के प्रस्तुत-अप्रस्तुत में लिंग-वचन साम्य के स्थापनार्थ बायु का पुल्लिंग प्रयोग हुआ है। कुछ कुशल कवियों ने उपमालंकार में लिंग-वचन साम्य के साथ-साथ व्याकरण की भी रक्षा कर ली है—

तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्ततान्योपगमात्कुमारी।
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं कांक्षति पट्पदाली॥
—कालिदास रघुवंश ६।६९

इसमें उपमेय कुमारी है और उपमान पटपदाली। लिंगवचन-साम्य के लिए पट्पद का पट्पदाली कर लिया गया है।

१—बिहारी रत्नाकर, नवीन संस्करण पृ. १ १६२

(अपनी कतिपय त्रुटियों के बावजूद भी बिहारी की भाषा परिनिष्ठित भाषा ब्रजभाषा है। ब्रजभाषा के व्याकरण-संमत नियमों का निर्धारण करने के लिए रत्नाकर जी ने सतसई की भाषा को प्रतिमान माना।) बिहारी की भाषा को दृष्टि में रखते हुए रत्नाकर जी की काव्य-भाषा का अध्ययन रोचक विषय होगा। बिहारी की भाषा की श्रेष्ठता का ज्ञान पुराने कवियों को भी था। सं० १७८१ में दूलपति मिश्र ने 'युक्ति तरंगिणी' में साफ लिखा है—

भाँति भाँति रचना सरस देख गिरा ज्यों ब्यास।
त्यों भाषा सब कबिनि में बिमल बिहारी दास॥

—— –

फिर भी उसे प्रबन्ध-काव्य नहीं कहा जाता। उसी प्रकार प्रबन्ध काव्य के बीच मुक्तक को पूर्णतः चरितार्थ करने वाले श्लोक या पद मुक्तक नहीं हो सकते।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मुक्तक और प्रबन्ध का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है—'मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी अंग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि कोई एक रमणीय दृश्य सहसा सामने ला दिया जाता है।'[1]

इस उद्धरण में शुक्ल जी ने मुक्तक को गुलदस्ता कह कर उसकी काँट-छाँट, तराश अर्थात् शिल्प सज्जा की ओर जो ध्यान आकृष्ट किया है वह बहुत संगत है पर प्रबंध और मुक्तक की प्रभावान्विति की चर्चा करते हुए एक को स्थायी और दूसरे को उतना स्थायी न मानना तर्कपूर्ण नहीं लगता। चंडीदास विद्यापति सूरदास तुलसीदास के मुक्तकों को कम स्थायी कैसे माना जा सकता है? इन सभी कवियों ने कुछ मनोदशाओं के जो चित्र प्रस्तुत किए हैं वे अत्यंत मार्मिक तथा अविस्मरणीय हैं। इसीलिए तो कहा गया है—'अमरुक कवेरेक: श्लोक: प्रबंध शतायते।' अमरुक के एक एक श्लोक पर शत-शत प्रबन्ध निछावर हैं। इससे कम से कम इतना तो स्पष्ट ही है कि मुक्तक अतिशय रस-धाम और लोकप्रिय रहे हैं। ध्वनिवादियों के अनुसार मुक्तकों की उदात्तता निर्विवाद हो चुकी है।

मुक्तकों की रसार्द्रता उनके प्रसंग-गर्भत्व और मर्मस्पर्शी खंड दृश्यों के चुनाव पर निर्भर है। प्रसंग गर्भत्व दो प्रकार का होता है—रूढ़ि मुक्त और रूढ़ि युक्त या स्वतंत्र। रूढ़ि युक्त सन्दर्भ-कल्पना के लिए सहृदय का शास्त्र विहित काव्य-परिपाटियों से परिचित होना आवश्यक है। काव्य-रूढ़ियों की अधिक जानकारी मुख्यतः उन लोगों को होती है जो एक विशेष सांस्कृतिक परिवेश के प्राणी होते हैं। मुक्तक इन्हीं लोगों के बीच अधिक कोमल प्रतीत होते हैं। इसीलिए मध्यकाल के दरबारी वातावरण में इनके विकास का

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास

अच्छा अवसर मिला। काव्य-परिपाटी से अनभिज्ञ पाठक निम्नलिखि
की चमत्कार-क्षमता से अपरिचित ही रह जायगा—

(१) पलनु पीक अंजनु अधर, धरे महावर भाल।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हौ लाल॥

(२) जुवति जोन्ह मैं मिलि गई नैंक न होति लखाइ।
सौंधे कैं डोरैं लगी अली चली सँग जाइ॥

(३) लाल अलौकिक लरिकई लखि लखि सखी सिहाँति।
आजकालि मैं देखियतु उर उकसौंहीं भाँति॥

इन दोहों का पूर्ण रसास्वादन नहीं कर सकता है जो खंडिता अभिसारि
अंकुरितयौवना की परिभाषाओं से अनभिज्ञ हो।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए—

बिथुर्यौ जावकु सौति-पग निरखि हँसी गहि गाँसु।
सलज हँसौंहीं लखि लियौ आधी हँसी उसाँसु॥

'यदि कोई इस रूढ़ि को न जानता हो कि नायक प्रेम के प्रसंग में महावर लगाया करते हैं उनके सात्त्विक भाव (कंप) से ऐसे-ऐसे सामान्य लोगों के हृदय पर बराबर होते हैं तो कोई कुछ नहीं कह सकता। 'आधी हँसी उसाँस' का तात्पर्य कभी सुनना। प्रसंग यह होगा कि कोई नायिका अपनी सौत के पैर में टेढ़ा-मेढ़ा महावर लगा देखकर इस व्यंग्य से हँसी कि इसे महावर लगाने का भी शऊर नहीं है। पर उसके हँसने पर सौत कुछ लज्जित हुई और हँसने-हँसने भी हो गई। नायिका ने तुरत ताड़ लिया कि मेरे नायक ने ही इसके पैर में महावर लगाया है, अंगस्पर्शजन्य कंप के कारण यह टेढ़ा हुआ है, इसलिए वह पूरी तरह हँसने भी नहीं पाई बीच में ही उसाँस लेने लगी।'[1]

पर मुक्तकों में चमत्कार-कल्पना को उतना ही महत्त्व देना चाहिए जितना उसका प्राप्य है। चमत्कार-कल्पना काव्य का सहायक उपकरण है और स्वतः साध्य नहीं है। यह कल्पना जहाँ चमत्कार लाती वहाँ रूढ़ियों की प्रचुरता रसात्मकता को बहुत कुछ गौण बना देती। बिहारी ने चमत्कार संस्कृ

१- पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बिहारी, पृ० १११

कल्पना के अतिरिक्त स्वाभाविक संदर्भ-कल्पना का भी सहारा लिया है और ऐसी कल्पना का उसमें प्राचुर्य है। एक उदाहरण लीजिए—

मृगनैनी दृग की फरक, उर-उछाह, तन फूल।
बिन हीं पिय-आगम उमगि पलटन लगी दुकूल॥

इसके पूर्व के उदाहरण में जिसमें सात्विक कम्प की रूढ़ि का सहारा लिया गया है काव्य पक्ष दब गया है और उसके स्थान पर चामत्कारिकता उभर कर सामने आई है। किन्तु इस उदाहरण में आगमिष्यत्पतिका नायिका ने प्रिय के आगमन का शुभ शकुन अनुमान कर अपने भूषण-वसन का बदलना प्रारंभ कर दिया है। इस दोहे की संदर्भ-कल्पना सहज है चमत्कार नहीं। इसलिए इसका काव्य-पक्ष अपने आप निखर आया है।

स्वतन्त्र संदर्भ-कल्पना जहाँ की जाती है वहाँ काव्यशास्त्रीय रूढ़ियाँ काम नहीं देती। पर इन कल्पनाओं के लिए भी आवश्यक है कि सहृदय को काव्य-विषयक दीर्घकालीन अभ्यास हो—

नहिं अन्हाइ, नहिं जाइ घर, चित्त चिहुट्यौ तकि तीर।
परसि फुरहरी लै फिरति बिहँसति धँसति न नीर॥

इस दोहे का काव्य-सौन्दर्य तभी प्रस्फुटित होगा जब यह कल्पना कर ली जाय कि नायिका के स्नान-स्थल पर नायक आ गया है और नायिका उसकी दर्शन-लालसा के कारण स्नान में विलम्ब करती है। यह संदर्भ-कल्पना किसी काव्य-रूढ़ि से बँधी नहीं है। यों इस प्रकार की संदर्भोद्भावना किसी तरह मौलिक नहीं कही जा सकती पर इसको किसी खास परिपाटी के भीतर नहीं रखा जा सकता।

इन संदर्भ-कल्पनाओं के आधार पर ही बिहारी को रीतिबद्ध का प्रतिनिधि कवि कहा गया है। पर ये संदर्भ-कल्पनाएँ इस परंपरा से आने वाले प्राकृत संस्कृत के मुक्तकों में भी मिलती हैं। इसलिए बिहारी की रीतिबद्धता पर प्रश्न चिह्न लग जाता है।

रह गई अन्य दूसरे के मुताब की बात। जो अन्य मूल जीवन के जितने गहरे मर्म का उद्घाटन करेगा वह उतना ही प्रभावोत्पादक और जीवन्त होगा। वह मूल किसी आख्यान या वृत्त पर भी आधृत हो सकता है और गहन जीवनानुभव पर भी। सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों के मुक्तक प्रथम कोटि में आयेंगे तो बिहारी मतभागम्ब के दूसरी कोटि में।

यों तो कई दृष्टियों से मुक्तकों का वर्गीकरण किया गया है पर काव्य मीमांसाकार राजशेखर का वर्गीकरण सर्वाधिक संगत प्रतीत होता है। उनके मतानुसार मुक्तकों के पाँच भेद हैं—(१) शुद्ध (२) चित्र (३) कथोत्थ (४) संविधानक भू और (५) आख्यानकवान्। जो मुक्तक इतिवृत्त विरहित हो वह शुद्ध के नाम से अभिहित होता है। यदि शुद्ध को विस्तार दिया जाय तो वह चित्र कहा जायगा। कथा से उत्पन्न होने वाला मुक्तक कथोत्थ कहा जाता है। किसी रंजनापूर्ण घटना या संविधान से संयुक्त मुक्तक संविधानक भू की कोटि में रखा जायगा। आख्यानकवान् मुक्तकों में ऐतिहासिक आख्यान को कल्पना रंजित बना दिया जाता है। बिहारी सतसई में सभी के उदाहरण मिल जायँगे।

भेद

शुद्ध मुक्तक—

धाँय धाँम बुधि की अपर अपटति आति अकोर।
करी बावरीह तक करी भरी सी ढेर॥

इसमें कोई वृत्त नहीं है। नायिका का सहज सौन्दर्य अपने आप चित्रित हो रहा है।

चित्र-मुक्तक—

आए आप सखी करी सेवत मान-सरीर।
हरि करी वह देखिके सुख त्रिगुणिका-धीर॥

इसमें मनोविकार को किंचित् विस्तार दे दिया गया है।

संविधानक भू—

जरिका दीबे के मिसनि भाँवर भौं दिग आय।
लपी सखानक चाँपुरी बासी हेम दुहाय॥

इसमें धूर्त नायक की चतुरतापूर्ण प्रेम क्रीड़ा का कथन है जो एक रंजक घटना है।

आख्यानकवान्—

नाह गरज नाहर गरज बोल सुनायौ टेरि।
फँसी फौज मैं बंदि बिच हँसी सबन तन हेरि॥

फौज के बीच घिरी हुई द्रौपदी का कथन ऐतिहासिक या पौराणिक आख्यान है इसे कल्पना के मिश्रण द्वारा रमणीय बना लिया गया है। 'नहि

पद्यम' हवाम' दोहे को कथात्म मुक्तक कहा जा सकता है। पर बिहारी में कथोत्थ और आख्यानवान् मुक्तक कम मिलते हैं, उनमें शुद्ध भिन्न और संविधानक भू मुक्तकों की अधिकता है। भक्त कवि प्रायः आख्यानमूलक मुक्तकों की सर्जना करते रहे हैं पर भक्तेतर कवि प्रायः विशुद्ध भावजीवी होने के कारण आख्यानों का सहारा कम लेते थे। हाल अमरु ऐसे ही कवि थे और बिहारी इन्हीं की काव्य-परंपरा में पड़ते हैं।

दोहा

बिहारी सतसई में दोहा छंद का प्रयोग किया गया है, कहीं-कहीं सोरठा भी दिखाई दे जाता है। भाषा और संस्कृति की नई करवट के साथ ही छंद करवट बदलता है। अपभ्रंश भाषा-साहित्य दोहा छंद साथ लेकर आया। उस काल की दर्पपूर्ण वीरता परक उक्तियों कोमल शृंगारिक भावनाओं तथा नीतिपरक सूक्तियों को बाँधने में इसे पूरी सफलता मिली। अपभ्रंश का यह अपना छंद है। डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि 'दोहा या दूहा अपभ्रंश का अपना छंद है। उसी प्रकार जिस प्रकार गाथा प्राकृत का अपना छंद है। बाद में तो 'गाथा बंध' से प्राकृत रचना और 'दोहा बन्ध' से अपभ्रंश रचना का बोध होने लगा था। 'प्रबंध-चिन्तामणि' में तो 'दूहा विद्या' में विवाद करनेवाले दो चारणों के विवाद की कथा आई है जो यह सूचित करती है कि अपभ्रंश काव्य को 'दूहा विद्या' भी कहने लगे थे। दोहा अपभ्रंश से पूर्ववर्ती साहित्य में एक दम अपरिचित है किन्तु परवर्ती हिन्दी साहित्य में यह छन्द अपनी पूरी महिमा के साथ वर्तमान है।'[1] डॉ॰ द्विवेदी ने दोहे का संबंध आभीरों से जोड़ा है क्योंकि अपभ्रंश भाषा भी आभीरों से संबद्ध है। सोरठा का संबंध सौराष्ट्र से जोड़ा गया है, इसे सोरठ दोहा भी कहते हैं। आभीरो-गुर्जरों का सौराष्ट्र से पुराना संबंध है।

अपभ्रंश के कवियों के बावजूद हिन्दी के अनेक विशिष्ट कवियों ने इस छंद का प्रयोग किया है। मीरा और सूर के पदों में भी इसका विनियोग हुआ है। जायसी के पद्मावत और गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस के बीच-बीच इस छंद का प्रयोग किया गया है। यह प्रबंध विधान में कड़ियाँ मिलाने के साथ-साथ विराम का ही काम करता है। अपभ्रंश काव्यों में कई पंक्तियों के बाद घत्ता देने की रीति प्रचलित थी। पश्चिमी अपभ्रंश में दोहे

१—'हिन्दी साहित्य प्रथम संस्करण पृ १

का पता ऐसा प्रचलित भी था। पद्मावत और रामचरितमानस में यह घत्तात्मक रूप में ही प्रयुक्त हुआ है।

रीति-शास्त्रों के लक्षण-निरूपण में दोहे का सब प्रयोग किया गया। कदाचित् स्मरण की सुविधा से इसे अपनाना अधिक संगत समझा। कहीं-कहीं तो उदाहरण के लिए भी इसका उपयोग किया गया है। हिन्दी-सतसइयों की परंपरा में तो इस छंद का एकछत्र राज्य है।

पर साखी और दोहरा क्या है? गोस्वामी तुलसीदास ने एक स्थान पर कहा है—'साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।' इससे पता लगता है कि साखी और दोहरा दोहे से कुछ भिन्न हैं। पहले 'साखी' साक्षी के अर्थ में ही प्रयुक्त होता रहा होगा—साखि करब आनमर पाएँ। किन्तु बाद में जब साखी के लिए दोहा छंद प्रयोग में लाया जाने लगा तब साखी शब्द दोहा का समानार्थक हो गया। फिर भी विषय-वस्तु की दृष्टि से साखी की अपनी विशिष्ट परंपरा बनी ही रही। और दोहरा इसमें 'रा' स्वार्थे नहीं प्रयुक्त है अन्यथा गोस्वामी जी अलग से इसका उल्लेख क्यों करते? भिखारीदास के मतानुसार दोहे के विषम चरणों में से एक-एक मात्रा घटा देने से दोहरा छंद बनता है।

दोहा अर्ध सम मात्रिक छंद है। इसके पहले तथा तीसरे चरणों में १३-१३ और दूसरे तथा चौथे चरणों में ११-११ मात्राएँ होती हैं। सामान्यतः दोहे का यही लक्षण है। ब्रजभाषा के प्रकांड पंडित जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने दोहे के कई लक्षणों को उद्धृत करते हुए उनमें अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति दोष दिखाया है। उन्होंने उसका लक्षण निर्धारित करते हुए लिखा है—

आठ तीन है प्रथम पद दूजे पद वसु आन।
वसु में लघु पर है न गुरु यह दोहा की बान॥[1]

इसका अभिप्राय है कि दोहे के प्रथम तथा तृतीय चरण में ८, ३, २ और ८, ३ पर मात्राएँ अलग हो जानी चाहिए अर्थात् ८वीं ९वीं के अथवा ११वीं १२वीं में मिलकर गुरु न हो जाय। पर ८, ३ आदि पर शब्द का पृथक् होना आवश्यक नहीं है। मात्राओं की दौड़ का क्रम इस प्रकार होगा—८+३+२ ८+(३)। रत्नाकर जी के इस लक्षण-निरूपण के आधार बिहारी सतसई के दोहे हैं।

१—बिहारी, बिहारी प्रथम संस्करण पृ० १३

अन्य छंदों की भाँति दोहा छन्द भी निरन्तर परिमार्जित होता रहा है। बिहारी-सतसई में आकर उसे जैसे पूर्णता प्राप्त हो गई। थोड़े में बहुत अधिक कह जाने के लिए बड़ी क्षमता-कुशलता अपेक्षित होती है। दोहे की इसी विशेषता को लक्ष्य करते हुए रहीम ने कहा है—

दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहिं।
ज्यौं रहीम नट कुंडली सिमिटि कूदि चढ़ि जाहिं॥

थोड़े में व्यापक अर्थ को समेट लेना दोहे की समाहार शक्ति पर निर्भर है। किन्तु समाहार की क्षमता केवल सामासिक पदावली के प्रयोग पर नहीं आधारित है। बिहारी अपने दोहों में रूप भाव चेष्टा आदि का प्रभावोत्पादक चित्र खड़ा करते हैं। इस चित्र के लिए उन्होंने जो फलक चुना है उस पर थोड़ी ही रेखाएँ खींची जा सकती हैं। इन रेखाओं को खींच देने में ही—प्रभावोत्पादक ढंग से खींच देने में—चित्र को प्रभविष्णु और भास्वर बनाया जा सकता है। जिस तरह रेखा-चित्रों में कुछ ही सार्थक लकीरों द्वारा चित्र को अर्थ-पूर्ण बना दिया जाता है उसी तरह बिहारी के दोहों को भी कुछ अर्थ-गर्भ-व्यापारों के चुनाव द्वारा व्यंजक बना दिया गया है।

वस्तु या व्यापारों के चुनाव में बिहारी ने जिस कुशलता का परिचय दिया उसे निम्नलिखित दोहों में देखा जा सकता है—

तंत्री नाद, कवित्त-रस सरस राग, रति-रंग।

× × ×

तन भूषन, अंजन दृगनि पगनि महावर रंग।

(वस्तु)

× × ×

चमक तमक हाँसी ससक मसक झपट लपटानि।

(व्यापार)

अपेक्षित भावों की अभिव्यक्ति में बिहारी ने कुछ ऐसे वस्तु-व्यापारों का चुनाव किया है जो प्रभावपूर्ण भाव-चित्र खड़ा करने में बहुत ही समर्थ हैं। इन वस्तु-व्यापारों में जो क्रम स्थापन किया गया है वह भी प्रभावोत्पादन में विशेष योग देता है। एक दोहा देखिए—

सघन कुंज घन घन तिमिर अधिक अँधेरी रात।
तऊ न दुरि है स्याम वह दीप-सिखा-सी जात॥

पहली पंक्ति में तीन वस्तुओं कुंज, तिमिर, अँधेरी रात का जो क्रम दिया गया है वह रात्रि की भयंकर कालिमा को उभारने में कितना सक्षम है।

इनके चुनाव में उन्होंने प्रायः तीन या चार ही वस्तु-व्यापारों को चुना है इससे अधिक के लिए दोहे में अवकाश ही कहाँ है। चाहे उपमा, रूपक, असंगति, विरोधाभास, दृष्टान्त आदि अलंकारों का निर्वाह करना हो चाहे अनुभाव, हाव आदि का चित्रण, सर्वत्र गुण-धर्म-गर्भ वस्तु-व्यापारों को चुना गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिसे व्यापार-योजना का नाम दिया है उसे सतसई में सामान्यतः सर्वत्र देखा जा सकता है।

कला के प्रति अत्यधिक सचेत होने के कारण इनके दोहों में टेकनीक संबंधी त्रुटि नहीं आ पाई है। समूचे हिन्दी-साहित्य में इतना सचेत कलाकार शायद ही कोई हुआ हो। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में रत्नाकर जी में जो सचेतता दिखाई पड़ती है वह बिहारी से अनुप्राणित तथा प्रभावित है। पर जहाँ पहले की सचेतता युग के अनुकूल नहीं पड़ती वहाँ दूसरे की युग के सर्वथा अनुरूप बन पड़ी है। यही कारण है कि बिहारी का प्रयास रूप-विन्यास योजन प्रतीत होता है। उनके दोहों के निर्माण में जिस क्रमागत पद-विन्यास (रेगुलैरिटी) और संग-संघटना (सिमिट्री) का विनियोग हुआ है वह उन्हें रूपात्मक पूर्णता प्रदान करता है।

जिस युग में बिहारी के दोहे निर्मित हुए वह युग अपनी अलंकृति तथा काव्यात्मक बारीकियों के लिए इतिहास में सदैव याद रहेगा। चित्र तथा वास्तु-कला में सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव-भंगिमाओं को रूपायित करने में जिस जागरूक रुचि का परिचय मिलता है बिहारी के दोहे भी उसी का प्रतिनिधित्व करते हैं।

बिहारी का देखा हुआ समाज

बिहारी के सम्बन्ध में जो कुछ भी जानकारी प्राप्त हुई है उसके आधार पर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उनका जन्म एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। पर जयपुर दरबार की कृपा से वे सामंतीय वर्ग में दीक्षित हो गए। फिर तो उन्होंने अपने को उस वातावरण में ऐसा ढाला कि उनका समूचा दृष्टिकोण नागरकों का दृष्टिकोण हो गया। इसलिए उनके देखे हुए समाज का विश्लेषण करते हुए इस बात का ध्यान रखना होगा कि उन्होंने जो कुछ कहा है नागरकता के नाम' कहा है। पर अपने मध्यवर्गीय संस्कारों के फलस्वरूप उस वर्ग की भी बहुत सी बातें जाने-अनजाने उनके दोहों में अभिव्यक्त हो उठी हैं। ग्राम के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण की चर्चा ग्रंथ के प्रारंभ में ही की जा चुकी है।

बिहारी को अपनी नागर-संस्कृति पर गर्व था। इसी से वे डंके की चोट कहते हैं—ये न यहाँ नागर बड़े   । इन नागरों के प्रतिनिधि थे मिर्जा राजा जयसिंह। उनके कतिपय गुणों को बिहारी के ही शब्दों में सुनिए—

(१) प्रतिबिंबित जयसाह दुति दीपति दरपन-धाम।
सब जग जीतन कौं कियौ काय-व्यूह मनु काम॥

(२) नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बँध्यौ आगैं कौन हवाल॥

(३) स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा देखि विहंग विचारि।
बाज पराएँ पानि परि तूँ पच्छीनु न मारि॥

उपर्युक्त तीन दोहों में नागर संस्कृति के तीन पक्षों के प्रतिनिधि चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। पहला दोहा उस संस्कृति के वैभव-विलास का प्रतीक है तो दूसरा उसकी काम-क्रीड़ा का। तीसरे में उसकी विवशता चिन्तनहीनता तथा व्यक्तित्वहीनता चित्रित है। पहली और दूसरी विशेषताओं की चरम परिणति तीसरी में ही दीख पड़ती है।

मिर्जा राजा जयसिंह के जिस दर्पन-धाम की चर्चा ऊपर की गई है वह केवल बिहारी की ही कल्पना में नहीं था। देव का एक आदर्श महल देखिए—

उज्जल अखंड खंड सातएँ महल महा
मंडल सँवारा चन्द्रमंडल की चोट ही।
भीतर हू लालनि के लालनि बिसाल ज्योति
बाहर जुन्हाई जगी जोतिन की जोट ही।

राज मार्गों की नयनाभिराम झाँकी लेने के लिए इन प्रासादों में जो गवाक्ष बने होते थे उनमें से झाँकती हुई नायिका को देखकर नायक कह उठता था—पावक झर सी झमक कै गई झरोखे झाँक। पावक की लपट सी बिहारी की नायिका आज भी सहृदयों में ऐन्द्रियानुभूति जाग्रत कर रही है।

जिस वातावरण में बिहारी का समय व्यतीत हो रहा था वह विलासिता से ओत-प्रोत था। सामन्तों से नारी के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण की आशा ही क्या की जा सकती थी। मुगलों की छत्र छाया में वे विलासी सामन्त निर्भय विलास का सुख लूट रहे थे। उनके लिए 'हिम-दर्बि' 'छाया ग्राहिणी' से कम न थी। उन्हीं के मनस्तोष के लिए तो नायिका भेद का विपुल-साहित्य तैयार हुआ था। बिहारी ने नायिका भेद के लक्षण-उदाहरण तो नहीं प्रस्तुत किए पर नायिकाओं की अनेकानेक अभिलाषाओं, चेष्टाओं, मनोदशाओं आदि के चटकीले चित्र खींचे। उन्हें घर में घाट-बाट में कुञ्ज-वन में सर्वत्र गोपी से भरी हुई देखा। इसीलिए पीछे कहीं पर मैंने लिखा है कि वे अपने युग के प्रति पूरी तरह से ईमानदार थे। नायिकाओं के सहज सौन्दर्य और भोलेपन

से उनको कुछ विशेष लेना देना नहीं था। वे उनके अन्दाज और चोंचों पर फिदा थे—जो एक विशेष प्रकार के दृष्टिकोण का द्योतक था।

अनेक आभूषणों से अलंकृत तथा पारदर्शी वस्त्रों में लिपटी हुई स्वप्नमुग्धा सी अमर मगर करने वाली देह-द्युति वाली नायिकाएँ सामन्त-सरदारों के मनोरंजन का साधन थीं। बारीक रेशमी साड़ी पहनने पर उसकी अंग-कान्ति इस तरह शोभन प्रतीत होती थी मानो अभ्रकावरण के भीतर जगमगाती हुई दीप-ज्योति। बारीक नीले घूँघट की ओट से झाँकता हुआ नायिका का चन्द्र मुख ऐसा लगता था मानो कालिन्दी के नीले जल में झिलमिलाता हुआ चन्द्रमा। अंग-ज्योति के सम्बन्ध में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है। पर जब नायिका की सखी उसकी हँसौंही बान के विषय में सावधान रहने को कहती है तो गजब हो जाता है—

नैकु हँसौंही बानि तजि, लख्यौ परत मुख नीठि।
चौका चमकनि चौंध में परत चौंधिसी डीठि॥

वास्तविकता यह थी कि सामन्तीय जीवन का झुकाव सामान्य के प्रति न होकर असामान्य के प्रति होता था। ऐसी स्थिति में नायिकाओं का भी अनेक दृष्टियों से आकर्षक और शोभन होना आवश्यक था।

नायिकाओं की अनेकानेक चेष्टाओं का वर्णन—कदाचित् रीतिकालीन अन्य कवियों की अपेक्षा बिहारी-सतसई में इसकी अधिकता है—उपर्युक्त तथ्य को ही प्रमाणित करता है। चेष्टाओं का विस्तृत वर्णन पीछे किया जा चुका है। यहाँ पर एक उदाहरण अलम् होगा—

भौंह ऊँचै आँचर उलटि मौर मोरि मुँह मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई दीठि दीठि सौं जोरि॥

ये चेष्टाएँ ऐसी हैं जिनमें रसिक आकंठ मग्न रहते थे। जरा उनका निरपेक्ष दृष्टिकोण भी देखें—

गढ़े बड़ौ छिन धरै छिन दै चीरि उतारि।
सीकें दै सीकें धुरै ऐसे ही रहि नारि॥

प्रेम क्रीड़ा को व्यक्त करने के लिए रीतिकालीन कवियों ने अनेक अत्यन्त तीव्र खेलकूद नृत्य गान चूप तड़ाग बोना व्रत त्योहार आदि को भी संदर्भ के रूप में ग्रहण किया है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि संस्कृति

और अन्य प्रेमोद्दीपन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पर इस सांस्कृतिक ह्रास के युग में इन्हें उपवन के रूप में न स्वीकार करके उद्दीपन के रूप में ग्रहण किया गया। इसका फल यह हुआ कि इनकी स्वतन्त्र सत्ता लुप्त हो गई।

वसन्त के नाम पर फाल्गुनोत्सव का वर्णन इस काल के कवियों ने बहुत किया है। यों अपने आप में इस उत्सव का काफी महत्व है। मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह मानसिक रेचन का काम करता है। बिहारी देव पद्माकर, बेनी प्रवीन घन आनन्द ठाकुर, ग्वाल आदि कवियों ने इस महोत्सव का रंगीन वर्णन किया है। 'होली के हुरदंग' का ऐसा ऐन्द्रिय चित्र अन्यत्र नहीं शायद ही मिले।

'ऋतु के अनुकूल केसरिया और पीत वस्त्रों की बहार, कोकिल और पपीहे की पुकार नृत्य वाद्य गुलाल-केसर और अबीर की झोली पिचकारी की फुहार स्त्री-पुरुषों की झपक-झपक धर-पकड़ खींच-तान, भाग-दौड़ वस्त्रों की खींचा-तानी डफ-ढोल मृदंग बंसी आदि सभी उपकरणों को एकत्र किया गया है।'[1] पर इसके वर्णन में बिहारी की दृष्टि औरों से किंचित् भिन्न है। इसका दृष्टिकोण इतना टिपिकल सामंतीय है कि दूसरों से अलग हो गया है। कुछ उदाहरण देखिए—

(१) ज्यौं ज्यौं पटु झटकति हटति हँसति नचावति नैन।
त्यौं त्यौं निपट उदारहूँ फगुवा देत बनै न॥

(२) पीठि दियें ही नैंकु मुरि, कर घूँघट पट टारि।
भरि गुलाल की मूठि सौं गई मूठि सी मारि॥

इनमें फाग के अन्तर्गत नायिका की चेष्टाओं का जो इतना ध्यान रखा गया है वह क्रीड़ात्मक दृष्टिकोण का द्योतक है।

अब जरा हिंडोरे का दृश्य देखिए—

(१) हेरि हिंडोरे गगन तें परी परी सी टूटि।
धरी धाय पिय बीच ही करी खरी रस लूटि॥

(२) बरजे दूनी हठ चढ़ै ना सकुचै न सकाय।
टूटति कटि दुमची मचक लचकि लचकि बचि जाय॥

---

१ डा० बच्चन सिंह : रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना पृ० १५१-५४

पहले दोहे में तो मानिनी परी को नीचे गिरते देखकर नायक ने बीच में ही पकड़ कर खूब रस लूटा। दूसरे में कमर की लचक पर विशेष ध्यान दिया गया है।

वैस-संधि-संकोच को प्राप्त करने के लिए अशोक पुष्प की आवश्यकता होती है। इसमें सामन्तीय दृष्टिकोण की झलक कितनी साफ हो गई है। सूर्य जब एक राशि से दूसरी राशि पर संक्रमण करता है तो संक्रान्ति होती है। पर मकर संक्रान्ति का विशेष महत्त्व माना जाता है। इसका निर्देश करते हुए बिहारी कहते हैं—

कहूँ कुसुमन पाइये वैस-संधि-संकोच ।

ग्राम जीवन की ओर दृष्टिपात करने पर भी यही उद्देश्य दिखाई पड़ता है—

सन सूक्यौ बीत्यौ बनौ ऊखौ लई उखारि ।
हरी हरी अरहरि अजौं, धर धरहरि उर नारि ॥

नीचे उद्धृत दोहों में सामन्तीय शब्दावली का व्यवहार उस काल के वातावरण को प्रत्यक्षीकृत कर देता है—

(१) अपने अंग के जानिकै, जोबन नृपति प्रवीन ।
स्तन मन नैन नितंब कौ, बड़ौ इजाफा कीन ॥

(२) नव-नागरि तन-मुलक लहि जोबन आमिर जोर ।
घटि बढ़ि तैं बढ़ि घटि रकम करी और की और ॥

मानवती तथा खंडिता नायिकाओं की भरमार उच्चवर्गीय अवकाशभोगी वर्ग के सर्वथा अनुकूल है। निर्बाध अवकाश को काटने के लिए इससे बढ़कर और क्या साधन हो सकता था ? चोर-मिहीचनी का खेल तो प्रेमपरक क्रीड़ा के लिए स्वर्ण-अवसर उपस्थित कर देता है—

दोऊ चोर मिहीचनी, खेल न खेलि अघात ।
दुरत हिये लपटाय कै छुवत हिये लपटात ॥

पहले ही कहा जा चुका है कि बिहारी का पालन-पोषण मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। इस वर्ग के गहरे संस्कारों से उच्च वर्ग में सम्मिलित होकर भी वे अपने को मुक्त न कर पाए। मध्य वर्ग के जीवन के भी वे ही चित्र उन्होंने लिए हैं जो शृंगार से सम्बद्ध हैं। नायक के जाते समय नायिका

की मनोदशा, गौने के समय उसकी मनोवृत्ति, देवर भाभी का प्रेम-सबंध आदि कुछ ऐसे विषय हैं जिनके आधार पर मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन की एक झलक मिल जाती है। बिहारी के अतिरिक्त इस काल के अन्य बहुत से कवियों ने भी इस वर्ग के प्रेमपरक प्रसंगों को अपना वर्ण्य विषय बनाया है। किन्तु बिहारी के वर्णन में जो संयम तथा अभिजात दृष्टिकोण दिखाई देता है वह अन्य कवियों में नहीं पाया जाता।

नैहर जाती हुई एक मध्यवर्गीय नायिका को देखिए—

पिय बिछुरन कौ दुसहु दुखु हरषु जात प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखियति तजत प्रान इहि बार॥

मुग्धावस्था में उसे नैहर जाते समय प्रिय के वियोग का दुःख नहीं होता था उस समय नैहर के प्रति, माता-पिता तथा अपने परिजनों के प्रति विशेष ममत्व के कारण विदा-बेला में दुःख ही अधिक होता है। किन्तु अब मध्या अवस्था में उसे ससुराल के प्रति मोह हो गया है। किन्तु नैहर का ममत्व भी कैसे छूट सकता है। इसलिए वह एक प्रकार के द्वंद्व में पड़ गई है। एक ओर तो उसे प्रिय से बिछुड़ने का दुःख है और दूसरी ओर मायके जाने का हर्ष भी हो रहा है। इस तरह की मनोदशा प्रायः मध्यवर्ग में ही विशेष रूप से देखी जाती है।

मध्यवर्गीय परिवारों में देवर-भाभी का विनोद प्रायः चला करता है। सामान्यतः यह विनोद बहुत ही पवित्र और सुन्दर होता है। हो सकता है कि एक समय ऐसा रहा हो जब देवर भाभी को मातृतुल्य मानता रहा हो। वाल्मीकीय रामायण के आधार पर इसको पुष्ट किया जा सकता है। एक जमाना वह भी आया जब दोनों का सम्बन्ध शुद्ध विनोद तक सीमित रहा। पर रीतिकालीन देवरों का आदर्श देखिए—

कहति न देवर की कुबत कुलतिय कलह डराति।
पंजर-गत मंजार ढिग सुक लौं सूकति जाति॥

इस पर रत्नाकर जी ने 'बिहारी-रत्नाकर' में लिखा है—देवर अपनी भौजाई से अनुचित प्रेम करना चाहता है। पर भौजाई पतिव्रता तथा सुशीला है। अतः बड़ी चिंतित है। यदि वह देवर की शिकायत नहीं करती तो उसे भय है कि कहीं अवसर पाकर, वह उसको धर्मच्युत इत्यादि न कर दे और यदि कहती

है जो भाई-भाई में तथा देवर देवरानी में कलह होता है। इस भड़कन में पड़ी हुई वह घुलती जाती है।

किसी मध्यवर्गीय स्त्री के लिए यह द्विधा की स्थिति बहुत ही स्वाभाविक है। सम्मिलित कुटुम्ब में प्रत्येक व्यक्ति का यह पवित्र कर्त्तव्य होता है कि वह उसे विघटित होने से बराबर बचाता रहे। सम्मिलित कुटुंब अपने आप में मध्यवर्गीय मर्यादा का प्रतीक है। अनेकानेक अत्याचारों को मूक भाव से सहन करते हुए भी व्यक्ति इसकी सुरक्षा पर आघात नहीं पहुँचाना चाहता था। आधुनिक युग में आर्थिक संकटों की मार से सम्मिलित कुटुम्ब तेजी से टूट रहा है पर पहले स्थिति ऐसी नहीं थी। उक्त दोहे में सम्मिलित कौटुम्बिक प्रणाली के अन्तर्गत भाभी की मनोदशा का जो चित्र खींचा गया है वह बहुत ही स्वाभाविक बन पड़ा है।

प्रेम उत्पन्न होने के लिए आवश्यक है कि नायक-नायिका के मिलने का कोई अवसर मिले। सूरदास ने गोपियों और कृष्ण के प्रेम को पल्लवित-पुष्पित करने के लिए बहुत से अवसरों को ढूंढ निकाला है। यमुना तट तथा कुंज-वन में उनसे प्राय: भेंट हो जाया करती है। गोचारण का अवसर भी इसके लिए उपयुक्त माना गया। मध्यवर्गीय परिवार में किसी वस्तु के घट जाने पर एक परिवार का कोई व्यक्ति (सामान्यत: स्त्री) पड़ोसी के घर से उसे माँग लाता है। बिहारी ने प्रेमोत्पादन में एक ऐसे अवसर का उपयोग किया है—

> *फेर कछुक करि पौर तें फिरि, चितई मुसुकाइ।*
> *आई जावनु लैन तिय नेहैं गई जमाइ॥*

भाई तो थी वह जामन लेने पर नायक के हृदय में स्नेह जमा कर चली गई।

परिधान प्रसाधन और अलंकारों के आधार पर भी बिहारी के देखे हुए समाज को तीन भागों में बांटा जा सकता है—निम्नवर्ग मध्यवर्ग और उच्च अथवा सामंतीय वर्ग। निम्नवर्ग का आर्थिक स्तर बहुत ही नीचा था इसलिए उनके लिए कीमती वेश-भूषा अकल्पनीय थी। स्त्रियाँ सामान्यत: घुंघची अथवा सीप की माला पहनती थीं। चमकदार टिकुली भी वे पहनती रही होंगी। आज भी आधुनिक सभ्यता से अपरिचित निम्नवर्गीय स्त्रियाँ चमकदार टिकुली

पहने हुए दीख पड़ती हैं। वे ललाट पर आड़े तिलक भी लगाती रही होंगी। बेंदी के रूप में वे सनई के फूल का प्रयोग करती थीं।

मध्यवर्ग की वेषभूषा भी सामान्य ही थी—आर्थिक दृष्टि से बहुत सम्पन्न न होने के कारण उनके लिए यही स्वाभाविक था। वे हाथ में अँगूठी कंगन कमर में करधनी पैरों में नूपुर, पाँव के अँगूठे में अनवट अँगुलियों में बिछिया पहनती रही होंगी।

उच्च वर्गीय स्त्रियों की वेष भूषा काफी कीमती होती थी। इसके लिए उनके पास धन की कमी नहीं थी। वे जरीदार कोर की साड़ियाँ 'चिनौटिया' अथवा धूपछाहीं' रंग के मूल्यवान परिधान पहनती थीं। वे बेंदियाँ पहनती थीं तो हीरे की जड़ी हुई, नाक में सीकें पहनती थीं तो नीलमणि से जड़ी हुई ललाट पर टीका धारण करती थीं तो मणि माणिक्य से संयुक्त बेसरें ऐसी पहनती थीं जिनमें मोती झूलते थे। प्रसाधनों में कर्पूर, अंगराग चंदन गुलाबजल आदि प्रयोग में आते थे।

यों शृंगार का सामान्य रूप निम्नलिखित था—

बेंदी भाल, तँबोल मुँह सीस सिलसिले बार।
दृग आँजे, राजै खरी एई सहज सिंगार॥

जिन वेष भूषाओं का उल्लेख ऊपर किया गया है वे तत्कालीन चित्रों में भी दिखाई पड़ती हैं। ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर भी यह प्रमाणित किया जा सकता है कि तत्कालीन समाज में उनका व्यवहार होता था।

किसी कवि की रचनाओं में वर्णित सामग्री के आधार पर उस युग को अप्रतिहत तभी किया जा सकता है जब यह अच्छी तरह समझ लिया जाय कि उसमें से कितना परंपरा से गृहीत है और कितना तत्कालीन वातावरण से। पर यह कार्य सरल नहीं। इसके लिए प्रभूत ऐतिहासिक साक्ष्यों का आश्रय करना होगा। कवि सामान्यतः काव्य-परंपरा में सुरक्षित बहुत से अलंकारों प्रसाधनों आदि का प्रयोग करते रहते हैं। इसलिए किसी आलोच्य कृति में वर्णित समाज का लेखा-जोखा केवल बाह्यालंकारों और प्रसाधनों के आधार पर ही नहीं प्रस्तुत किया जा सकता।

लेकिन काव्य-परंपरा में प्रतिष्ठित सामग्री का उपयोग करने पर भी

कवि के दृष्टिकोण पर युग की कुछ ऐसी छाप पड़ी रहती है कि उसके अध्ययन पर तत्कालीन समाज की रूप रेखा का निर्माण किया जा सकता है। यही कारण है कि किसी काल विशेष की ऐतिहासिक सांस्कृतिक स्थिति की जानकारी के लिए इतिहासकार उस काल की साहित्यिक सामग्री की भी परीक्षा करते हैं। बिहारी के देखे हुए समाज को इसी दृष्टि से परीक्षित किया गया है।

बिहारी का अपना दृष्टिकोण जैसा पहले ही कहा जा चुका है पूर्णतः सामंतीय था। इसलिए इस वर्ग का अंकन उन्होंने जितनी ईमानदारी से किया है उतनी ईमानदारी से अन्य वर्ग का नहीं। अन्य वर्ग का चित्रण उतनी ईमानदारी से वे कर भी नहीं सकते थे। इसलिए निम्न वर्ग के प्रति अथवा गाँव के प्रति जो उपहास मिश्रित उक्तियाँ मिलती हैं वे स्वयं गाँव या निम्न वर्ग की स्थिति न अंकित कर बिहारी के नागर दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करती हैं।

मध्यवर्गीय परिवार की कुछ ही बातें वास्तविक ज्ञात होती हैं। यदि कोई सामंतीय वर्ग से ही देखी गई हैं। मध्य वर्ग का घेरा काफी व्यापक होता है। घरेलू जीवन की पुरुषकामिनियों सौतों का सापत्न्य द्वेष आदि उच्च मध्य वर्ग की विशेषताएँ हैं जो सामंतीय जिन्दगी के संग में होती थी। अतः बिहारी के समाज को देखने के लिए सामंतीय कुहासे का बराबर ध्यान रखना होगा।

१०

ऐंद्रिय बोध और बिहारी

समग्र हिंदी साहित्य में रामचरित मानस को छोड़कर किसी भी ग्रंथ को उतनी लोकप्रियता नहीं मिली जितनी बिहारी सतसई को प्राप्त हुई। उसकी शृंगारिकता के प्रति बहुत कुछ अरुचि हो जाने के बाद भी उसकी ख्याति में किसी प्रकार की कमी नहीं आई। क्या 'सतसई' की चामत्कारिकता को उसकी ख्याति का कारण माना जा सकता है? पर चमत्कार का गुलदस्ता बहुत दिनों तक नहीं चल सकता। ऐसी स्थिति में उसकी प्रसिद्धि के कारणों को सतसई गत काव्योचित मूल्यों में ही खोजना होगा।

हिंदी सतसइयों की परंपरा में बिहारी सतसई का शीर्ष स्थानीय होना इस तथ्य का प्रमाण है कि उसमें अन्य सतसइयों की अपेक्षा कुछ विशेष अधिक है।[1] उसकी टीकाओं की परंपरा भी कम लंबी नहीं है।[2] ये टीकाएँ

१—बिहारी की देखा देखी 'मतिराम सतसई', 'भूपति सतसई', 'चंदन सतसई', 'राम सतसई' और वीर सतसई 'दुलारे दोहावली' आदि का प्रणयन हुआ। इससे पता लगता है कि इस सतसई का प्रभाव आधुनिक युग में भी तिरोहित नहीं हुआ। पंडितों और रसिकों ने इसका आदर भी किया। वियोगी हरि को 'वीर सतसई' पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक तथा दुलारे दोहावली पर देव पुरस्कार मिला।

२—कृष्णलाल की टीका, मानसिंह की टीका, भारतलाल की टीका, पठान सुलतान की कुंडलियों वाली टीका, अमर चंद्रिका टीका, राजा गोपालशरण की टीका, कृष्ण कवि की कवित्तबंध टीका, मानिक चंद्रिका टीका, अनवर चंद्रिका टीका, रघुनाथ बंदीजन की टीका, रसचंद्रिका टीका, हरिप्रकाश टीका, लाल कवि बंदीजन

इस बात की द्योतक है कि पठन-पाठन के क्षेत्र में सतसई का विशेष प्रचार था। यह सब सतसई की आंतरिक विशेषताओं के कारण हुआ।

सतसई का कथ्य तथा शैली दोनों ही अपने युग-सामंतीय युग-की विशिष्टताओं से समन्वित होने के कारण ईमानदारी की दृष्टि से सम्पन्न हैं। सामंतीय ऐंद्रिय बोध के अनुरूप जिस भाषा शैली का प्रयोग बिहारी ने किया वह एक ऊँचाई पर पहुँच जाने के बाद आगे नहीं बढ़ सकी। बाद की सतसइयाँ बिहारी की अनुकृति पर लिखी जाने के कारण प्रायः ताजगी से शून्य हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि परवर्ती सतसइयाँ कहीं पर भी बिहारी से आगे नहीं बढ़ पातीं। किंतु सतसइयों पर समग्रतः विचार करने पर बिहारी सतसई बेजोड़ सिद्ध होती है।

बिहारी सतसई के बाद यदि किसी अन्य श्रेष्ठ सतसई का नामोल्लेख होगा तो मतिराम सतसई का। बिहारी और मतिराम लगभग समसामयिक थे। एक पीढ़ी के कवि होने के नाते उनका ऐन्द्रियबोध (Sensibility) भी मिलता जुलता था। (यह आवश्यक नहीं है कि एक समय के दो कवियों के ऐन्द्रियबोध (Sensibility) में समानता हो ही। कभी-कभी ऐन्द्रियबोध की विभिन्नता के कारण एक कवि समसामयिक प्रतीत होता है तो दूसरा कई शताब्दी पहले का।) एक युग के दो कवियों में यदि वे युगीन चेतना के प्रति जागरूक हों तो लगभग एक प्रकार का ऐन्द्रियबोध होता है और उनका

कृष्ण लाल चन्द्रिका टीका, प्रतापचन्द्रिका टीका, अमर सिंह कायस्थ राजनगर बजापुर की अमर चन्द्रिका टीका, सतसैया-बरनार्थ अर्थात् देवकीनन्दन टीका, रसकोषजी की टीका, लल्लूलालजी की लालचन्द्रिका टीका, रामबक्श की टीका, अनवर मुन्शिकार अली की कुण्डलिया, ईसरीप्रसाद कायस्थ कृत कुण्डलिया, सरदार कवि की टीका, प्रभुदयालजी की टीका, कर्णकवि तथा सिरिधर की टीकायें, रस कौमुदी टीका, ज्वालाप्रसाद की टीका, रामनाथ कृत तथा गंगाधर कृत टीकायें, प्रभुदयाल पाँडे की टीका, छोटूराम कृत बैजन टीका, हरिचरण, अम्बिकादत्त व्यास की कुण्डलियाँ, भावार्थ प्रकाशिका टीका, हरिप्रकाश बाबा सुमेर सिंह की कुण्डलियाँ, गुजराती बिहारी, भानुप्रताप तिवारी की टीका, शृंगार सप्तशती टीका, कृष्णदत्त बिहारी टीका, बिहारी बोधिनी टीका, कुलपति मिश्र, परमेश्वर तथा सूरतमिश्र की टीकायें, मनीराम की टीका, संस्कृत पद्य टीका, भावार्थ बुंद टीका, भावार्थ प्रकाशिका गुजराती टीका, ठाकुर कवि की कवित्त छन्द टीका, बोली भगवानदीन की फारसी टीका, बिहारी रत्नाकर टीका। (इन टीकाओं के विस्तृत विवरण के लिए देखिए जगन्नाथदास रत्नाकर कृत 'कविवर बिहारी' पृ० २२०-३११) आजकल पाठकों ने और भी टीकायें आ गई हैं।

प्रयुक्त शब्दावली (idioms) में भी एक तरह की समानान्तरता पा जाती है। यह सब होते हुए भी मतिराम में न वह कसाव है और न वह व्यंजक शब्द-योजना जो बिहारी सतसई में पाई जाती है।

विक्रमशाहि और रामसहाय की सतसइयों तथा बिहारी की सतसई के रचनाकाल में लगभग दो सौ वर्षों का अन्तर है। एक पीढ़ी का ऐन्द्रियबोध दूसरी पीढ़ी की इच्छा के प्रतिकूल भी बदल जाता है। जो लोग इस परिवर्तन को परिलक्षित कर लेते हैं वे अपनी नवीन अनुभूतियों को नई शब्दावली देना चाहते हैं। इस चेतना के अभाव में वे लकीर पीटने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाते। उक्त दोनों सतसइयों में बिहारी की अत्यधिक अनुकृति मिलती है। यह अनुकरण शब्दावली के प्रयोग तक ही सीमित है, बिहारी सतसई के अन्तरंग का अनुकरण सम्भव भी कैसे होता। अच्छी विशेषताओं का अनुकरण प्राय नहीं हो पाता। रामसहाय की सतसई के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन द्रष्टव्य है—

बिहारी के अनुकरण पर बनी हुई पुस्तकों में इसी को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसके बहुत से दोहे सरस उद्भावना में बिहारी के दोहों के पास तक पहुँचते हैं। पर यह कहना कि ये दोहे बिहारी के दोहों में मिलाए जा सकते हैं रसज्ञता और भावुकता से ही पुरानी दुश्मनी निकालना नहीं बिहारी को भी नीचे गिराने का प्रयत्न समझा जायगा। "जहाँ तक शब्दों की कारीगरी और वाग्वैदग्ध्य से सम्बन्ध है वहाँ तक अनुकरण करने का प्रयत्न किया गया है और सफलता भी हुई है। पर हावों का वह सुन्दर विधान चेष्टाओं का वह मनोहर चित्रण भाषा का वह सौष्ठव संचारियों की वह सुन्दर व्यंजना इस सतसई में कहाँ ?...."[1]

आधुनिक सतसइयों में वियोगी हरि की वीर सतसई का विशेष सम्मान हुआ। इसकी प्रतिष्ठा के दो कारण हैं—एक तो यह शृंगार सतसई न होकर वीर सतसई है जिससे पिष्टपेषण नहीं हो पाया दूसरे समय के अनुकूल शब्द-योजना भी परिवर्तित हो गई है। बिहारी की परम्परा में पड़नेवाली 'दुलारे दोहावली' जिनमें बिहारी की बारीकी वैदग्ध्य चमत्कारिता आदि के दर्शन होते हैं, कुछ दिनों तक रीतिकालीन मनोवृत्ति वाले सहृदयों का मनोरंजन कर लुप्त प्राय हो गई। बिहारी सतसई एक विशेष युग में ही लिखी जा सकती थी उसके बाद उसकी अनुकृति ही सम्भव है।

१—आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी साहित्य का इतिहास छठवाँ संस्करण पृ० १०८

इस बात की द्योतक है कि पठन-पाठन के क्षेत्र में सतसई का विशेष प्रचार था। यह सब सतसई की आंतरिक विशेषताओं के कारण हुआ।

सतसई का कथ्य तथा शैली दोनों ही अपने युग-सामंतीय युग-की विशिष्टताओं से समन्वित होने के कारण ईमानदारी की दृष्टि से श्रेष्ठतम हैं। सामंतीय ऐंद्रिय बोध के अनुरूप जिस भाषा शैली का प्रयोग बिहारी ने किया वह एक ऊँचाई पर पहुँच जाने के बाद आगे नहीं बढ़ सकी। बाद की सतसइयाँ बिहारी की अनुकृति पर लिखी जाने के कारण प्रायः ताजगी से शून्य हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि परवर्ती सतसइयाँ कहीं पर भी बिहारी से आगे नहीं बढ़ पातीं। किंतु सतसइयों पर समग्रतः विचार करने पर बिहारी सतसई बेजोड़ सिद्ध होती है।

बिहारी सतसई के बाद यदि किसी अन्य श्रेष्ठ सतसई का नामोल्लेख होगा तो मतिराम सतसई का। बिहारी और मतिराम लगभग समसामयिक थे। एक पीढ़ी के कवि होने के नाते उनका ऐन्द्रियबोध (Sensibility) भी मिलता जुलता था। (यह आवश्यक नहीं है कि एक समय के दो कवियों के ऐन्द्रियबोध (Sensibility) में समानता हो ही। कभी-कभी ऐन्द्रियबोध की विभिन्नता के कारण एक कवि समसामयिक प्रतीत होता है तो दूसरा कई शताब्दी पहले का।) एक युग के दो कवियों में यदि वे युगीन चेतना के प्रति जागरूक हों तो लगभग एक प्रकार का ऐन्द्रियबोध होता है और उनका

कृष्ण लाल चन्द्रिका टीका, प्रतापचन्द्रिका टीका, अमर सिंह कायस्थ राजकुमार बलरामपुर की अमर चन्द्रिका टीका, सतसैया-वर्णार्थ, अनवर चन्द्रिका टीका, हरिचरणदास की टीका, लल्लूलाल की लालचन्द्रिका टीका, रामबख्श की टीका, नवाब जुल्फ़िकार खाँ की कुण्डलियाँ, ईश्वरीप्रसाद कायस्थ कृत कुण्डलियाँ, लाल कवि की टीका, बख्तावर की टीका, कृष्ण तथा सिंगार की टीकाएँ, रस कौमुदी टीका, मनोहरदास की टीका, रामभक्त कृत तथा पंचाधर कृत टीकाएँ, प्रभुदयाल पाँडे की टीका, लोहराम कृत वैष्णव टीका, परमानन्द अम्बिकादत्त व्यास की कुण्डलियाँ, भावार्थ प्रकाशिका टीका, साहबराम बाबा सुमेर सिंह की कुण्डलियाँ, गुरुदत्त बिहारी, लाला भगवानदीन तिवारी की टीका, संजीवन भाष्य टीका, गुजराती बिहारी टीका, बिहारी बोधिनी टीका, कृष्ण कवि मिश्र ज्वालाराम तथा सम्पूर्ण की टीकाएँ, मनोहरदास की टीका, संस्कृत गद्य टीका, फ़ारसी उर्दू टीका, भावार्थ प्रकाशिका गुजराती टीका, ईश्वर कवि की सवैया छन्द टीका, कोटी ज्वालादास की फ़ारसी टीका, बिहारी रत्नाकर टीका। (इन टीकाओं के विस्तृत विवरण के लिए देखिए जगन्नाथदास रत्नाकर कृत 'कविवर बिहारी' पृ० १६७–२११) आजकल बाजारों में और भी टीकाएँ आ गई हैं।

प्रयुक्त शब्दावली (idioms) में भी एक तरह की समानान्तरता पा जाती है। यह सब होते हुए भी मतिराम में न वह कसाव है और न वह व्यंजक शब्द-योजना जो बिहारी सतसई में पाई जाती है।

विक्रमसाहि और रामसहाय की सतसइयों तथा बिहारी की सतसई के रचनाकाल में लगभग दो सौ वर्षों का अन्तर है। एक पीढ़ी का ऐन्द्रियबोध दूसरी पीढ़ी की इच्छा के प्रतिकूल भी बदल जाता है। जो लोग इस परिवर्तन को परिलक्षित कर लेते हैं वे अपनी नवीन अनुभूतियों को नई शब्दावली देना चाहते हैं। इस चेतना के अभाव में वे लकीर पीटने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाते। उक्त दोनों सतसइयों में बिहारी की अत्यधिक अनुकृति मिलती है। यह अनुकरण शब्दावली के प्रयोग तक ही सीमित है, बिहारी सतसई के अन्तरंग का अनुकरण सम्भव भी कैसे होता। उनकी विशेषताओं का अनुकरण प्रायः नहीं हो पाता। रामसहाय की सतसई के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन द्रष्टव्य है—

बिहारी के अनुकरण पर बनी हुई पुस्तकों में इसी को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसके बहुत से दोहे सरस उद्भावना में बिहारी के दोहों के पास तक पहुँचते हैं। पर यह कहना कि ये दोहे बिहारी के दोहों में मिलाए जा सकते हैं रसज्ञता और भावुकता से ही पुरानी दुश्मनी निकालना नहीं बिहारी की भी भीख गिराने का प्रयत्न समझा जायगा। जहाँ तक शब्दों की कारीगरी और वाग्वैदग्ध्य से सम्बन्ध है वहीं तक अनुकरण करने का प्रयत्न किया गया है और सफलता भी हुई है। पर हावों का वह सुन्दर विधान चेष्टाओं का वह मनोहर चित्रण भाषा का वह सौष्ठव संचारियों की वह सुन्दर व्यंजना इस सतसई में कहाँ ?...[1]

आधुनिक सतसइयों में वियोगी हरि की 'वीर सतसई' का विशेष सम्मान हुआ। इसकी प्रतिष्ठा के दो कारण हैं—एक तो यह शृंगार सतसई न होकर वीर सतसई है जिससे पिष्टपेषण नहीं हो पाया दूसरे कथ्य के अनुकूल शब्द योजना भी परिवर्तित हो गई है। बिहारी की परम्परा में पड़नेवाली 'दुलारे दोहावली' जिसमें बिहारी की बारीकी वैदग्ध्य चमत्कारिता आदि के दर्शन होते हैं कुछ दिनों तक तात्कालिक मनोवृत्ति वाले सहृदयों का मनोरंजन कर मुक्त प्राय हो गई। बिहारी सतसई एक विशेष युग में ही लिखी जा सकती थी उसके बाद उसकी अनुकृति ही सम्भव है।

१—आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी साहित्य का इतिहास काशी संवत् पृ० ३००

इस बात की द्योतक है कि पठन-पाठन के क्षेत्र में सतसई का विशेष प्रचार था। यह सब सतसई की आंतरिक विशेषताओं के कारण हुआ।

सतसई का कथ्य तथा शैली दोनों ही अपने युग-सामंतीय युग-की विशिष्टताओं से समन्वित होने के कारण ईमानदारी की दृष्टि से उत्तम है। सामंतीय ऐंद्रिय बोध के अनुरूप जिस भाषा शक्ती का प्रयोग बिहारी ने किया वह एक ऊँचाई पर पहुँच जाने के बाद आगे नहीं बढ़ सकी। बाद की सतसइयाँ बिहारी की अनुकृति पर लिखी जाने के कारण प्रायः ताजगी से शून्य हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि परवर्ती सतसइयाँ कहीं पर भी बिहारी से आगे नहीं बढ़ पातीं। किंतु सतसइयों पर समग्रतः विचार करने पर बिहारी सतसई बेजोड़ सिद्ध होती है।

बिहारी सतसई के बाद यदि किसी अन्य श्रेष्ठ सतसई का नामोल्लेख होगा तो मतिराम सतसई का। बिहारी और मतिराम लगभग समसामयिक थे। एक पीढ़ी के कवि होने के नाते उनका ऐंद्रियबोध (Sensibility) भी मिलता जुलता था। (यह आवश्यक नहीं है कि एक समय के दो कवियों के ऐंद्रियबोध (Sensibility) में समानता हो ही। कभी-कभी ऐंद्रियबोध की विभिन्नता के कारण एक कवि समकालिक प्रतीत होता है तो दूसरा कई शताब्दी पहले का।) एक युग के दो कवियों में यदि वे युगीन चेतना के प्रति जागरूक हों तो लगभग एक प्रकार का ऐंद्रियबोध होता है और उनका

कृष्ण लाल चन्द्रिका टीका प्रतापचन्द्रिका टीका अमर सिंह कायस्थ राजकुमार बलरामपुर की अमर चन्द्रिका टीका सप्तशती-भावार्थ अर्थात् हरिप्रकाश टीका रसकौमुदी की टीका लल्लूलालजी की लालचन्द्रिका टीका रामबक्श की टीका अनवार सुहेलियार अली की कुण्डलिया ईसवीप्रसाद कायस्थ कृत कुण्डलिया सरदार कवि की टीका मानसिंह की टीका नवनीत तथा गिरिधर की टीकाएँ, रस कौमुदी टीका यशोदानन्दन की टीका रामचरण कृत तथा गंगाधर कृत टीकाएँ प्रभुदयाल पांडे की टीका श्रीहरिचरण कृत वैष्णव टीका पण्डित अम्बिकादत्त व्यास की कुण्डलियाँ आचार्य प्रकाशिका टीका लालकवि बाबा सुमेर सिंह की कुंडलियाँ पुरुषोत्तम तिवारी भानुप्रताप तिवारी की टीका संजीवन भाष्य टीका बिहारी टीका बिहारी बोधिनी टीका कृष्णदत्त मिश्र बलिराम तथा रत्नाकर की टीकाएँ, मनोराम की टीका संस्कृत पद्य टीका आर्या गुम्फ टीका आचार्य प्रकाशिका गुजराती टीका ईश्वर कवि की सवैया छन्द टीका, कोली मानन्दीलाल की फारसी टीका बिहारी रत्नाकर टीका। (इन टीकाओं के विस्तृत विवरण के लिए देखिए जगन्नाथदास रत्नाकर कृत 'कविवर बिहारी' पृ० १८०–२११) आजकल भाषाओं में और भी टीकाएँ आ गई हैं।

प्रयुक्त शब्दावली (idioms) में भी एक तरह की समानान्तरता पा जाती है। यह सब होते हुए भी मतिराम में न वह चमत्कार है और न वह व्यंजक शब्द-योजना जो बिहारी सतसई में पाई जाती है।

विक्रमसाहि और रामसहाय की सतसइयों तथा बिहारी की सतसई के रचनाकाल में लगभग दो सौ वर्षों का अन्तर है। एक पीढ़ी का ऐन्द्रियबोध दूसरी पीढ़ी की इच्छा के प्रतिकूल भी बदल जाता है। जो लोग इस परिवर्तन को परिलक्षित कर लेते हैं वे अपनी नवीन अनुभूतियों को नई अभिव्यक्ति देना चाहते हैं। इस चेतना के अभाव में वे लकीर पीटने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाते। उक्त दोनों सतसइयों में बिहारी की अत्यधिक अनुकृति मिलती है। यह अनुकरण शब्दावली के प्रयोग तक ही सीमित है, बिहारी सतसई के अन्तरंग का अनुकरण सम्भव भी कैसे होता। अपनी विशेषताओं का अनुकरण प्रायः नहीं हो पाता। रामसहाय की सतसई के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन द्रष्टव्य है—

"बिहारी के अनुकरण पर बनी हुई पुस्तकों में इसी को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसके बहुत से दोहे सरल उद्भावना में बिहारी के दोहों के पास तक पहुँचते हैं। पर यह कहना कि ये दोहे बिहारी के दोहों में मिलाए जा सकते हैं समझना और भावुकता से ही दुश्मनी निकालना नहीं बिहारी को भी नीचे गिराने का प्रयत्न समझा जायगा। जहाँ तक भाषा की कारीगरी और वाग्वैदग्ध्य से सम्बन्ध है वहीं तक अनुकरण करने का प्रयत्न किया गया है और सफलता भी हुई है। पर हावों का वह सुन्दर विधान चेष्टाओं का वह मनोहर चित्रण भाषा का वह सौष्ठव संचारियों की वह सुन्दर व्यंजना इस सतसई में कहाँ?—"[1]

आधुनिक सतसइयों में वियोगी हरि की 'वीर सतसई' का विशेष सम्मान हुआ। इसकी प्रतिष्ठा के दो कारण हैं—एक तो यह शृंगार सतसई न होकर वीर सतसई है जिससे पिष्टपेषण नहीं हो पाया, दूसरे कथ्य के अनुरूप शब्द-योजना भी परिवर्तित हो गई है। बिहारी की परम्परा में पड़नेवाली 'दुलारे दोहावली' जिसमें बिहारी की बारीकी, वैदग्ध्य, चमत्कारिता आदि के दर्शन होते हैं कुछ दिनों तक रीतिकालीन मनोवृत्ति वाले सहृदयों का मनोरंजन कर लुप्त प्राय हो गई। बिहारी सतसई एक विशेष युग में ही लिखी जा सकती थी उसके बाद उसकी अनुकृति ही सम्भव है।

१—आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी साहित्य का इतिहास आठवाँ संस्करण पृ० २४८

करते समय उनकी भावेगमयता के विभिन्न स्तरों की व्याख्या करनी पड़ेगी। बिहारी का वैशिष्ट्य उनके संवेदनात्मक काव्य-चित्रों में निहित है जो व्यापक काव्य चेतना और मानसिक संघटन की अपेक्षा रखता है।

भावेगात्मक काव्य जैवी मनोवृत्तियों से संबद्ध होने के कारण पाठकों के मन पर तीव्रतापूर्वक गहरा प्रभाव डालकर उन्हें आंदोलित करने में पूर्णतः समर्थ होते हैं। संवेदनात्मक काव्य अपेक्षाकृत व्यापक जीवन-भूमि की पीठिका रखते हैं इसलिए उनकी अनुगूंज भी अधिक स्थिर और गहरी होती है। *बिहारी के काव्य का वैशिष्ट्य उनकी संवेदनात्मक अनुगूंज में है* उनके ऐन्द्रियबोध की विशेषता में है, उनकी शब्दावली (Idioms) के अनूठे प्रयोग में है।

यहीं पर यह भी विचारणीय है कि यदि बिहारी और इस युग के अन्य प्रतिनिधि कवियों का ऐन्द्रियबोध और शब्दावली उस युग के अनुरूप है और वे कवि कम प्रतिभासम्पन्न भी नहीं हैं तो उन्हें प्रथम श्रेणी के महाप्राण कवियों में गिना जा सकता है? उत्तर होगा नहीं। एक ओर जाने-अनजाने सभी लोग इस काल की कविताओं की शृंगार-माधुरी पर मुग्ध दिखाई पड़ते हैं तो दूसरी ओर उनके दृष्टि-संकोच जैसी बाधाओं की शिकायत भी करते हैं। वास्तविकता यह है कि वे सभी कवि लक्षणों और उदाहरणों दोनों में विगत आदर्शों की रक्षा करते हुए दीख पड़ते हैं। उन कविता के सभी आदर्श सामंतीय आदर्श के मेल में होने के कारण उस घेरे के बाहर नहीं क्योंकि यदि व्यापक सामंतीय आदर्शों को भी समग्रतः आकलित किया गया होता तो भी उन्हें व्यापक भावभूमि मिल जाती।

समस्त युग की कविताओं का आलोड़न करने पर कहीं भी उस आवेग के दर्शन नहीं होते जो इस जीवन-धारा को मार्ग दे सके। उनके द्वारा कहीं भी नवीन चिन्तन और सर्ज चेतना को बल नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में यह युग

प्रयुक्त शब्दावली (Idioms) में भी एक तरह की समानान्तरता पा जाती है। यह सब होते हुए भी मतिराम में न वह प्रभाव है और न वह व्यंजक शब्द-योजना जो बिहारी सतसई में पाई जाती है।

विक्रमसाहि और रामसहाय की सतसइयों तथा बिहारी की सतसई के रचनाकाल में लगभग दो सौ वर्षों का अन्तर है। एक पीढ़ी का ऐन्द्रियबोध दूसरी पीढ़ी की इच्छा के प्रतिकूल भी बदल जाता है। जो लोग इस परिवर्तन को परिलक्षित कर लेते हैं वे अपनी नवीन अनुभूतियों को नई शब्दावली देना चाहते हैं। इस चेतना के अभाव में वे लकीर पीटने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाते। उक्त दोनों सतसइयों में बिहारी की प्रत्यक्ष अनुकृति मिलती है। यह अनुकरण शब्दावली के प्रयोग तक ही सीमित है। बिहारी सतसई के अन्तरंग का अनुकरण सम्भव भी कैसे होता। अपनी विशेषताओं का अनुकरण प्रायः नहीं हो पाता। रामसहाय की सतसई के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन द्रष्टव्य है—

"बिहारी के अनुकरण पर बनी हुई पुस्तकों में इसी को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसके बहुत से दोहे सरस उद्भावना में बिहारी के दोहों के पास तक पहुँचते हैं। पर यह कहना कि ये दोहे बिहारी के दोहों में मिलाए जा सकते हैं रसज्ञता और भावुकता से ही पुरानी दुश्मनी निकालना नहीं बिहारी की भी नीच गिराने का प्रयत्न समझा जायगा। जहाँ तक शब्दों की कारीगरी और वाग्वैदग्ध्य से सम्बन्ध है वहाँ तक अनुकरण करने का प्रयत्न किया गया है और सफलता भी हुई है। पर हावों का वह सुन्दर विधान चेष्टाओं का वह मनोहर व्यंजना भाषा का वह सौष्ठव संचारियों की वह सुन्दर व्यंजना इस सतसई में कहाँ?"—१

आधुनिक सतसइयों में वियोगी हरि की 'वीर सतसई' का विशेष सम्मान हुआ। इसकी प्रतिष्ठा के दो कारण हैं—एक तो यह शृंगार सतसई न होकर वीर सतसई है जिससे पिष्टपेषण नहीं हो पाया, दूसरे समय के अनुकूल शब्द-रचना भी परिवर्तित हो गई है। बिहारी की परम्परा में पड़नेवाली 'दुलारे दोहावली' जिसमें बिहारी की बारीकी वैदग्ध्य चमत्कारिता आदि के दर्शन होते हैं कुछ दिनों तक रीतिकालीन मनोवृत्ति वाले सहृदयों का मनोरंजन कर कुछ म्लान हो गई। बिहारी सतसई एक विशेष युग में ही लिखी जा सकती थी उसके बाद उसकी अनुकृति ही सम्भव है।

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास [illegible]

इस काल के दूसरे विशिष्ट कवि देव जिन्हें बिहारी की तुलना में बार बार ले आया जाता है मुख्यत कवित्त सवैये के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति करते रहे। उन्होंने अलग ढंग से अनुभव किया और उसकी अभिव्यक्ति के लिए अलग माध्यम ग्रहण किया। इसके फलस्वरूप उनकी शब्दावली (इडियम) भी कुछ भिन्न हो गई। कुछ युगीन विशेषताओं को छोड़ कर दोनों कवियों की परंपराएँ अलग अलग थीं—बिहारी मुक्तक काव्य परंपरा में पड़ते हैं तो देव रीतिबद्ध काव्य परंपरा में। इसके अतिरिक्त दोनों की जीवन दृष्टि म एक प्रकार की समानता होते हुए भी ऐंद्रियबोध में विभिन्नता थी। एक का ऐंद्रियबोध वस्तुनिष्ठ था तो दूसरे का आत्मनिष्ठ। इस विभिन्नता के कारण बिहारी की अभिव्यक्ति में एक विशेष प्रकार की सजगता और सतर्कता आ गई तो देव की अभिव्यक्ति में भावाविष्ट आवेशमयता। अत दोनों के दृष्टिकोण की तुलना तो की जा सकती है पर दोनों के काव्य को तुलनात्मक दृष्टि से देखना तुलनात्मक आलोचना के साथ अन्याय करना है।

इस संबंध में डा नगेन्द्र का कहना है—'बिहारी में सौंदर्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व को ग्रहण कर समन्वित करने की जैसी अपूर्व क्षमता है वैसी देव अथवा रीतियुग के किसी भी कवि में नहीं है—परन्तु सौंदर्य में पूर्णत रसमग्न होने की क्षमता देव में उनसे कहीं अधिक है। समग्र रूप से विचार करते हुए देव के काव्य की आत्मा बिहारी के काव्य की आत्मा से अधिक समृद्ध है। काव्य शिल्प की दृष्टि से दोनों पक्ष समान रूप से प्रबल है—यद्यपि यहाँ भी टैक्नीक दोनों की सर्वथा भिन्न है। देव की अपेक्षा बिहारी की कला अधिक सचेष्ट है—उन्होंने कला का माध्यम भी अपेक्षाकृत सूक्ष्म ही चुना है। स्वभावत उनके शिल्प का मुख्य गुण है जड़ाव। इसके विपरीत देव के शिल्प में कोमल सामंजस्य अधिक है। बिहारी की भाषा देव की भाषा से अधिक प्रौढ़ है। उसकी लाक्षणिक तथा व्यंजनात्मक शक्ति अत्यंत विकसित तथा समासगुण अद्भुत है। उधर देव की भाषा में झंकृति संगीत और ओजस्व अधिक है। अतएव शिल्पी रूप में दोनों के सापेक्षिक महत्त्व का निर्णय निर्णायक की रुचि पर ही निर्भर है'[1]। किन्तु जहाँ तक काव्य के तत्त्वान्वेषणपरक

१—डा नगेन्द्र रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और [illegible] कविता पृ २१८।

का सवाल है वह भी निर्णायक की रुचि पर ही निर्भर है। ध्वनिवादी को बिहारी का काव्य अधिक काव्य-गुण-समन्वित मालूम पड़ेगा तो रसवादी को देव का। इसीलिए आरंभ में ही इसका संकेत किया जा चुका है कि ऐंद्रियबोध की असमानता के कारण दोनों की तुलना औचित्यपूर्ण नहीं मानी जा सकती।

मतिराम बिहारी और देव के मध्यवर्ती हैं। उनमें मात्रिक रूप से भावात्मक तन्मयता और सतर्कता दोनों है। उन्होंने आत्माभिव्यक्ति के लिए दोनों प्रकार के माध्यमों—दोहा तथा कवित्त-सवैया—को ग्रहण किया है। पद्माकर की काव्यानुभूति शक्तिमती अवश्य है पर देव की तरह भाषा की चुस्ती का उनमें भी अभाव है। इस काल में बौद्धिक परिपक्वता बिहारी में ही प्राप्त होती है।

ऐन्द्रियबोध (Sensibility) की विभिन्नता के कारण अभिव्यक्ति की पद्धति में जो अन्तर आता है उससे कवियों की अपनी अलग अलग विशेषताएँ उद्घाटित की जा सकती हैं। किन्तु यदि बिहारी के ऐन्द्रियबोध के अंतर का स्पष्टीकरण कर लिया जाय तो उनके मूल्यानुचिन्तन में अधिक सहायता मिलेगी।

किसी व्यक्ति को बाह्य जगत का बोध किसी न किसी इन्द्रिय के माध्यम से होता है। इसी के आधार पर स्मृतियों और कल्पनाओं का निर्माण होता है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि मानवीय इन्द्रियाँ कैमरे का लेंस नहीं हैं जो बाह्य आकृतियों को ज्यों का त्यों उतार लें। यह प्रमा (Perception) परक ज्ञान फोटोग्राफी के ज्ञान से भिन्न होता है। व्यक्ति की विभिन्नताएँ और वैयक्तिक विशेषताएँ बाह्यबोध को बहुत कुछ नए रूप में ढाल देती हैं। इसीलिए प्रमात्मक बोध को मनोवैज्ञानिकों ने शारीरिक ज्ञान से अधिक माना है यह एक मानसिक प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति के अन्तर्जीवन की परख होती है।

इस ऐन्द्रियबोध की जो प्रतिक्रिया होती है वह मुख्यतः दो प्रकार की होती है—संवेदनात्मक तथा भावात्मक। संवेदनात्मक प्रतिक्रिया का संबंध संयम सुरुचि और संस्कृति से होता है तो भावात्मक प्रतिक्रिया का संबंध जीवित जगत से होता है। बिहारी के अतिरिक्त रीतिकाल के शेष प्रतिनिधि कवियों में भावप्रवणता का प्राधान्य है। उन कवियों की तुलनात्मक विवेचना

करते समय उनकी भावेममयता के विभिन्न स्तरों की व्याख्या करनी पड़ेगी। बिहारी का वैशिष्ट्य उनके संवेदनात्मक काव्य-चित्रों में निहित है जो व्यापक काव्य चेतना और मानसिक संघटन की अपेक्षा रखता है।

भावात्मक काव्य जैसी मनोवृत्तियों से सबद्ध होने के कारण पाठकों के मन पर शीघ्रतापूर्वक गहरा प्रभाव डालकर उन्हें भावोसिक्त करने में पूर्णतः समर्थ होते हैं। संवेदनात्मक काव्य अपेक्षाकृत व्यापक जीवन-भूमि की पीठिका रखते हैं इसलिए उनकी अनुभूति भी अधिक स्थिर और गहरी होती है। बिहारी के काव्य का वैशिष्ट्य उनकी संवेदनात्मक अनुभूति में है उनके ऐन्द्रियबोध की विशेषता में है, उनकी शब्दावली (*Idioms*) के अनूठे प्रयोग में है।

यहीं पर यह भी विचारणीय है कि यदि बिहारी और इस युग के अन्य प्रतिनिधि कवियों का ऐन्द्रियबोध और शब्दावली उस युग के अनुरूप है और वे कवि कम प्रतिभासम्पन्न भी नहीं हैं तो उन्हें प्रथम श्रेणी के महाप्राण कवियों में गिना जा सकता है? उत्तर होगा नहीं। एक ओर जाने-अनजाने सभी लोग इस काल की कविताओं की शृंगार-माधुरी पर मुग्ध दिखाई पड़ते हैं तो दूसरी ओर उनके दृष्टि-संकोच जैसी भावधारा की शिकायत भी करते हैं। वास्तविकता यह है कि ये सभी कवि लक्षणों और उदाहरणों दोनों में विगत आदर्शों की रक्षा करते हुए दीख पड़ते हैं। इन कविता के सभी आदर्श सामंतीय आदर्श के मेल में होने के कारण उस घेरे के बाहर नहीं झाँक पाते यदि व्यापक सामंतीय आदर्शों को भी समग्रतः आकलित किया गया होता तो भी उन्हें व्यापक भावभूमि मिल जाती।

समस्त युग की कविताओं का आलोड़न करने पर कहीं भी उस आवेग के दर्शन नहीं होते जो स्वच्छ जीवन-धारा को मार्ग दे सके। उनके द्वारा कहीं भी नवीन चिन्तन और सर्जनात्मक जीवन चेतना को बल नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में यह युग अल्पप्राण कवियों का युग ही कहा जायगा।